□ श्रीदेवकुमार जैन, सि. आचार्य, दर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न
[अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक]

स्याद्वाद सिद्धान्त : एक अनुशीलन

□

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह अपने जन्मकाल से ही स्व-अस्तित्व के बारे में विचार करता आया है। इस विचार के साथ ही दर्शन का प्रादुर्भाव हो जाता है। भले ही हम उसे दर्शन के नाम से सम्बोधित करें अथवा अन्य किसी नाम से सम्बोधित करें, लेकिन यह सत्य है कि विचार करने के साथ ही दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश हो जाता है। यही नहीं, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन से सम्बन्धित सभी प्रवृत्तियों में दर्शन का अस्तित्व तिल में तेल की तरह विद्यमान है। दर्शन के अस्तित्व की अस्वीकृति का सिद्धान्त भी प्रकारान्तर से दर्शन का परिणाम है।

घट-दर्शन इत्यादि व्यवहार में चाक्षुषज्ञान अर्थ में, आत्म-दर्शन इत्यादि व्यवहार में साक्षात्कार अर्थ में और न्याय-दर्शन, सांख्यदर्शन इत्यादि व्यवहार में तत्वचिन्तन की विचार-सरणी अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग देखा जाता है। उनमें से प्रस्तावित प्रसंग में दर्शन शब्द का अर्थ तत्व-चिन्तन की विचार-सरणी ग्रहण किया गया है। इस विचार-सरणी में दर्शन का अभिधेय सत्य का साक्षात्कार करना है। सत्य वह है जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है। साक्षात्कार का अभिप्राय है जिसमें भ्रम, सन्देह, मतभेद या विरोध को अवकाश न हो।

यद्यपि सभी दर्शन और उनके प्रवर्तक सत्य का ही समर्थन करते हैं और अहर्निश सत्यान्वेषण की साधना एवं निरूपण में तल्लीन रहते हैं, तथापि सत्यान्वेषण और सत्य-निरूपण की पद्धति सर्वत्र एक-सी नहीं होती है। सत्य-प्रकाशन की पद्धति सबकी अपनी-अपनी है। बौद्ध-दर्शन में जिस प्रणाली द्वारा सत्य का निरूपण किया गया है, उससे विपरीत वेदान्त-दर्शन की प्रणाली है। इसी प्रकार न्याय, सांख्य आदि-आदि दर्शनों की सत्य-निरूपण की पद्धति अपनी-अपनी और भिन्न-भिन्न है। उनमें सत्य-निरूपण हेतु जैन-दर्शन की प्रणाली अपनी और अनूठी ही है। वह विभिन्न विचारकों का विरोध न कर उदारता का परिचय देते हुए उनके आंशिक सत्यों को यथा-स्थान सत्य मानती है। जैन-दर्शन की इसी प्रणाली को स्याद्वाद-सिद्धान्त कहते हैं।

जैन-दर्शन की उदारता का कारण

जैन-दर्शन ने विचार एवं जीवन सम्बन्धी अपनी व्यवस्थाओं के विकास में कभी भी किसी प्रकार का संकुचित दृष्टिकोण नहीं अपनाया। उसकी वैचारिक भूमिका सदैव उदात्त रही है। वह समन्वय के दृष्टिकोण को अपनाने एवं सही तथ्यों को प्रस्तुत करने के लिये आग्रहशील रहा है। इस आग्रह में संघर्ष या खंडन का स्वर नहीं, अपितु उस प्रणाली को प्रस्तुत करने का लक्ष्य रखा गया है जो सयुक्तिक और जीवन-स्पर्शी है। यही कारण है कि जैन-दर्शन द्वारा तत्व-निरूपण के लिये स्याद्वाद-सिद्धान्त जैसी निर्दोष प्रणाली को स्वीकार किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी-कभी जैन-दर्शन के बारे में कहा जाता है कि वह अवसरवादी है। इसीलिए उसने अपनी तात्विक चिन्तन-प्रणाली में अनेक परस्पर विरोधी बातों का समावेश कर लिया है और उसका अपना कुछ भी नहीं है। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर उक्त धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है, क्योंकि परस्पर विरोधी बातों का समावेश किसी व्यावहारिक सुविधा के विचार से जैन-दर्शन में नहीं किया गया है परन्तु पदार्थों की वैसी स्थिति और चिन्तन-मनन-कथन की स्वाभाविक परिणति के कारण सहज रूप में ऐसा हो ही जाता है। अतएव इस बात को स्पष्टतया समझने के लिए तत्व-विषयक स्थिति को समझ लेना युक्ति-संगत होगा।

जैन-दर्शन की तत्व-विषयक भूमिका

हम प्रत्यक्षतः विश्व की संरचना, विकास, विनाश और व्यवस्था की प्रक्रिया में परस्पर विरुद्ध गुण-धर्मों वाले दो पदार्थों को देख रहे हैं। हमारा अनुभव भी इस स्थिति को प्रमाणित करता है। उनमें एक सचेतन (सजीव) और दूसरा अचेतन (अजीव) है। अनेक चिन्तकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं।

कुछ चिन्तकों ने सिर्फ एक चिदात्मक (सचेतन) द्रव्य ही स्वीकार किया है और दृश्यमान जगत् के शेष पदार्थों को माया-जाल बतलाया है। परन्तु क्या यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है, असत् है? क्या इन दृश्यमान पदार्थों का अपने विभिन्न रूपों में अस्तित्व नहीं है?

कुछ दूसरे चिन्तकों ने केवल भौतिक पदार्थों की सत्ता स्वीकार की है और उन्हीं के मेल-जोल से चैतन्य की उत्पत्ति मानी है। लेकिन क्या यह संभव है कि विजातीय गुण, जाति, स्वभाव वाली वस्तु से उससे विपरीत गुण-धर्म-स्वभाव वाली वस्तु की उत्पत्ति हो जाये?

जैन-दर्शन जीव-अजीव दोनों तत्वों को स्वीकार करता है। दोनों का अपने-अपने गुण, धर्म, स्वभाव से अस्तित्व है। उनमें अपनी-अपनी स्थिति-रूप से परिवर्तन होते रहने पर भी नित्यता है। वे न तो सर्वथा नित्य ही हैं और न सर्वथा अनित्य ही। इसी प्रकार उनमें वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अनेक गुण हैं।

पदार्थों की यह स्थिति है। इसी पृष्ठ-भूमि के आधार पर जैन-दर्शन ने अपना दृष्टिकोण एवं चिन्तन-मनन के लिये स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

स्याद्वाद की परिभाषा

विचार करने की क्षमता ही मनुष्य को समग्र प्राणधारियों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कराती है। मनुष्य स्वयं सोचता है और स्वतंत्रता पूर्वक सोचता है। परिणामतः विचारों की विभिन्न दृष्टियां जन्म लेती हैं। एक ही वस्तु के बारे में विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोणों से सोचना प्रारम्भ करते हैं। यहां तक तो विचारों का क्रम ठीक रूप में चलता है, किन्तु उसके आगे यह होता है कि विचार करने वाले विचारणीय वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर उसके समग्र स्वरूप को समझने की ओर उन्मुख नहीं होते, जिसके फलस्वरूप एकान्तिक दृष्टिकोण एवं हठवादिता का वातावरण बनने लगता है और जो विचार सत्य-ज्ञान की ओर बढ़ा सकते थे, वे ही पारस्परिक समन्वय के अभाव में विद्वेषपूर्ण संघर्ष के जटिल कारणों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस संघर्ष का परिहार स्याद्वाद-सिद्धान्त द्वारा संभव है।

हम अपने जीवन-व्यवहार को ही लें। वह विधि-निषेध-संस्पर्शी पार्श्वयुगल के बीच से गुजरता है। प्रत्येक रूप और क्रिया-कलाप में इनका प्रयोग दूध में पानी के समान मिला हुआ देखते हैं। इनके बिना हम अपने व्यवहार का निर्वाह एक क्षण के लिये भी नहीं कर सकते। जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व आदि अनेक स्थितियों का समावेश है, किन्तु वक्ता अपनी-अपनी अपेक्षाओं की मुख्यता और गौणता के दृष्टिकोण से उसे संबोधित करता है और वे अपेक्षायें उस-उस दृष्टिकोण से सत्य मानी जाती हैं।

'स्याद्वाद' स्यात् और वाद इन दो शब्दों से निष्पन्न यौगिक रूप है। इनमें 'स्यात्' शब्द का अर्थ एक अपेक्षा से और 'वाद' शब्द का अर्थ कथन करना है। अर्थात् अपेक्षा विशेष से अन्य अपेक्षाओं का निराकरण नहीं करते हुए वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन करना 'स्याद्वाद' कहलाता है।

प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्मों की सत्ता है, यह पूर्व में संकेत किया गया है। वह सत्ता उस पदार्थ में विद्यमान अन्य धर्मों की प्रतिरोधक नहीं है। स्याद्वाद उन अनन्त धर्मों की विद्यमानता का निश्चय कराता है और उनको बतलाने के लिए 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ प्रगट या अप्रगट रूप से प्रयोग करता है अथवा सम्बद्ध रहता है।

वस्तु और उसके विविध आयामों का जानना उतना कठिन नहीं है, जितना शब्दों द्वारा उनका कथन करना कठिन है। एक ज्ञान अनेक आयामों (धर्मों) को एक साथ जान सकता है, किन्तु एक शब्द एक समय में वस्तु के एक ही धर्म का आंशिक कथन कर सकता है। वह अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का मुख्यता से वचन-व्यवहार करता है, क्योंकि अनेकधर्मात्मक वस्तु में जिस धर्म की विवक्षा होती है, वह धर्म मुख्य और इतर धर्म गौण कहलाता है। वक्ता के वचन-व्यवहार के दृष्टिकोण को समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, यह स्याद्वाद का हार्द (आशय) है।

समस्त संसार परस्पर विरोधी बातों से भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में उनका परिहार किसी एक ही पक्ष को अङ्गीकार करने से नहीं किन्तु अभीप्सित अभिधेय को मुख्य और अनभीप्सित को गौण मानकर किया जा सकता है।

पदार्थों में परस्पर विरोधी धर्मों के सहवर्तित्व का कारण

यह स्पष्ट तथ्य है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने सत्-अस्तित्व से समन्वित होकर भी असत्-नास्तित्व से सहित है और यह क्षणक्षयता-अनित्यता भी सत् अंश से विहीन नहीं है। यह अस्तित्व क्यों है? अस्तित्व का अर्थ है सत् की प्राथमिकता। सत्ता का अर्थ प्रत्येक संभव निषेध का त्याग और स्व की शुद्ध स्वीकृति है। यह सत् और असत् दोनों है। यदि असत्-नास्तित्व न हो तो कोई अस्तित्व, कोई सत्ता, कोई अभिव्यक्ति नहीं होगी। यह असत् है जो सत् को अभिव्यक्त होने को प्रेरित करता है।

असत् उस सत् पर आश्रित है, जिसका वह निषेध करता है। असत् शब्द स्वयं ही असत् पर सत् की दार्शनिक प्राथमिकता को व्यक्त करता है। यदि पहले सत् न हो तो कोई असत् नहीं हो सकता। सत् अपने अन्दर स्वयं को और जो उसके प्रतिकूल या विरुद्ध है, उस असत् को भी रखता है। असत् सत् का ही अंश है। वह उससे अलग नहीं किया जा सकता।

इसलिये प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का सहवर्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। यह सहवर्तित्व एक ही वस्तु में अविरोध रूप से रहता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमाणित होता है। इनके सहवर्तित्व के कारण वक्ता प्रश्नानुसार विधि-प्रतिषेध का आश्रय लेकर वाग्-व्यवहार करता है।

एक ही वस्तु में यद्यपि परस्पर विरोधी धर्मों का अवस्थान कुछ असमंजस में डाल देता है परन्तु मध्यस्थ एवं तटस्थ दृष्टि से अथवा 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' के भावानुसार विचार करें तो असामंजस्य की स्थिति स्वतः दूर हो जाती है। एक ही दृष्टि से वस्तु नित्य और अनित्य कदापि नहीं हो सकती, किन्तु वे परस्पर विरोधी धर्म अपने-अपने स्वरूप से रहते हुए भी दूसरे का अपलाप नहीं करते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो अपने स्वरूप से, अपने गुण, धर्म, स्वभाव से तो न हो किन्तु दूसरे के गुण, धर्म, स्वभाव से हो। यदि पदार्थ स्वरूप से तो न हो, किन्तु पररूप से हो तो सभी में एकरूपता हो जायेगी और विभिन्नता नाम की कोई चीज नहीं रहेगी। इसलिए प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है, पररूप से नहीं। यह प्रयोग और स्वभाव से सिद्ध है। वह अस्तित्व रूप से एवं नास्तित्व रूप से परिणमित होता रहता है। फिर भी पारस्परिक विरुद्धता होने पर भी उनके सहवर्तित्व रूप से रहने में कोई विरोध दिखलाई नहीं देता है। जैसे—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोक-प्रमोद-माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ।।

एक स्वर्णकार के पास तीन ग्राहक पहुँचे। उनमें से एक को स्वर्ण-घट, दूसरे को मुकुट और तीसरे को स्वर्ण की आवश्यकता थी। उस समय स्वर्णकार स्वर्ण-घट को तोड़कर मुकुट बना रहा था। स्वर्णकार की इस प्रवृत्ति को देखकर घट के ग्राहक को दुःख हुआ, मुकुट के इच्छुक को हर्ष और स्वर्ण लेने वाला व्यक्ति, उस स्थिति में मध्यस्थ रहा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वहां एक ही समय में एक व्यक्ति विनाश को देख रहा है, दूसरा उत्पत्ति देख रहा है और तीसरा व्यक्ति उन दोनों स्थितियों में मध्यस्थ रहकर स्वर्ण-रूप ध्रुवता को देख रहा है।

उक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पाद और विनाश दो परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और वचन-व्यवहार द्वारा उनका अलग-अलग कथन किया जाता है, फिर भी ये उत्पाद और विनाश रूप दोनों धर्म एक ही स्वर्ण नामक पदार्थ में सहवर्ती रूप से विद्यमान हैं। उन दोनों धर्मों के होते रहने हर भी स्वर्ण नामक द्रव्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है। दोनों ही स्थितियों में वह स्वर्ण नाम से सम्बोधित किया जाता है। स्वर्णत्व स्थायी रूप से स्थिर है। इसलिये परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक पदार्थ में सहवर्तित्व मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। इस प्रकार के स्वभाव से विश्व का प्रत्येक पदार्थ समन्वित है।

स्याद्वाद की कथनशैली

पदार्थ सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं है किन्तु परिणामी नित्य है। परिणामी नित्य का अर्थ है—प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करना। प्रत्येक पदार्थ (द्रव्य) अपनी जाति का त्याग किये बिना ही प्रति-समय निमित्तानुसार परिवर्तन करता रहता है। यही द्रव्य का परिणाम कहलाता है। यह परिणाम अनादि-अनन्त हैं और सादि-सान्त हैं। उस चक्र में से कभी कोई अंश लुप्त नहीं होता और कोई भाग मात्र नित्य और कोई भाग मात्र अनित्य नहीं हो सकता। इसका आशय यह हुआ कि प्रत्येक द्रव्य में दो शक्तियां होती हैं—एक ऐसी जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरी ऐसी जो सदा अशाश्वत है। शाश्वतता के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) और अशाश्वतता के कारण उत्पाद-व्ययात्मक (अस्थिर) कहलाती है।

उक्त शाश्वतिक और अशाश्वतिक स्वभाव से युक्त द्रव्य की शाश्वतिक स्थिति को गुण और अशाश्वतिक स्थिति को पर्याय भी कहते हैं। जो गुण-पर्यायवान है, उसे द्रव्य कहते हैं। ये गुण और पर्याय अनन्त हैं। गुण त्रिकालवर्ती होते हैं और पर्याय प्रतिसमय अवस्था से अवस्थान्तर को करने वाली होती हैं। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि द्रव्य में परिणाम-जनन की जो शक्ति होती है, वही उसका गुण कहलाती है और गुणजन्य परिणाम पर्याय। एक द्रव्य में शक्ति-रूप से अनन्त गुण हैं जो वस्तुतः आश्रयभूत द्रव्य से अविभाज्य हैं। प्रत्येक गुण-शक्ति की भिन्न-भिन्न समयों में होने वाली त्रैकालिक पर्यायें अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंशभूत शक्तियां उत्पन्न व विनष्ट न होने के कारण नित्य अर्थात् अनादि-अनन्त हैं परन्तु सभी पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न तथा नष्ट होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहने के कारण व्यक्तिशः अनित्य अर्थात् सादि-सान्त हैं और प्रवाह की अपेक्षा अनादि-अनन्त हैं। कारणभूत एक शक्ति के द्वारा द्रव्य में होने वाला त्रैकालिक पर्याय-प्रवाह सजातीय भी है और विजातीय भी है। द्रव्य में अनन्त शक्तियों से जन्य पर्याय-प्रवाह एक साथ चलते रहते हैं। भिन्न-भिन्न शक्ति-जन्य विजातीयपर्याय एक समय में एक द्रव्य में पायी जा सकती हैं। परन्तु एक शक्ति-जन्य भिन्न-भिन्न समयभावी सजातीय पर्याय एक द्रव्य में एक समय में नहीं पायी जा सकती हैं।

त्रैकालिक अनन्त पर्यायों के एक-एक प्रवाह की कारणभूत एक-एक शक्ति (गुण) और ऐसी अनन्त शक्तियों का समुदाय द्रव्य है, यह कथन भी भेदसापेक्ष है। अभेददृष्टि से पर्याय अपने-अपने कारणभूत गुणस्वरूप और गुण द्रव्य-स्वरूप है। द्रव्य में सब गुण एक-से नहीं हैं। कुछ साधारण अर्थात् सब द्रव्यों में समान रूप से पाये जाने वाले होते हैं, जैसे—अस्तित्व, नास्तित्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व आदि और कुछ असाधारण अर्थात् मुख्यरूप से एक-एक द्रव्य में पाये जाने वाले होते हैं, जैसे—चेतना, रूप आदि। इन असाधारण गुणों और तज्जन्य पर्यायों के कारण प्रत्येक द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न है।

पूर्वोक्त कथन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-स्वभाव का यह वैचित्र्य है कि परस्पर विरोधी शक्तियों—अस्तित्व, नास्तित्व, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि का उसमें समावेश है और ये सभी अपनी-अपनी अपेक्षाओं से युक्त हैं। इन आपेक्षिक धर्मों का कथन या ज्ञान अपेक्षा को सामने रखे बिना नहीं हो सकता। इसलिए परस्पर विरोधी होने पर भी नित्यानित्यादि दृष्टि का प्रयोग एक ही वस्तु में पक्ष-भेद को लक्ष्य में रखते हुए होता है। इनका कथन करने के लिये स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा विधिरूप और पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा निषेध-रूप प्रक्रिया अपनाई जाती है। इसमें न तो भ्रांति की संभावना है और न तत्वज्ञान सम्बन्धी कोई रहस्यमय गुत्थी सुलझाने का ही प्रश्न उठता है। इसके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

एक अंगूठी किसी साधारण धातु या पीतल की बनी हुई है किन्तु उस पर इस प्रकार का मुलम्मा किया गया है कि वह सोने की बनी हुई-सी दिखलाई दे। कोई ग्राहक उसे खरीदने के लिए आता है, परन्तु खरीदने के पहले वह निश्चय कर लेना चाहता है कि अंगूठी सोने की बनी है या नहीं। वह एक अनुभवी व्यक्ति से पूछता है कि क्या वह अंगूठी सोने की बनी है? उसे इसका उत्तर 'नहीं' में मिलता है। ग्राहक पुनः पूछता है कि वह सोने की नहीं बनी है तो फिर किस धातु की बनी हुई है? जानकार उस धातु का नाम बताता है, जिससे वह अंगूठी बनी है और फिर उस पर सोने का मुलम्मा कर दिया गया है। प्रामाणिकता के लिये वह अंगूठी के किसी भाग को जरा-सा खरोंच कर बतला देता है कि अंगूठी किस धातु की बनी है।

इस प्रकार एक ही अंगूठी के विषय में दो कथन—एक निषेधात्मक (सोने की नहीं बनी है) और दूसरा विध्यात्मक (जिस धातु की बनी है, उसका नाम) न्याय्य और सत्य है। जब ग्राहक यह जानना चाहता है कि क्या अंगूठी सोने की बनी है तो 'नहीं' उत्तर सत्य है और जब अंगूठी सोने की नहीं बनी है तो किस धातु की बनी है? उसका उत्तर चाहे तब अमुक धातु की बनी है, यह उत्तर सत्य है। सारांश यह है कि निषेधात्मक दृष्टि का उदय तब होता है जब वस्तु में 'पर' की अपेक्षा से कथन होता है और विधिदृष्टि का प्रयोग उसके 'स्व' रूप से कहने में होता है। वास्तव में अंगूठी तो सोने की बजाय दूसरी धातु की है, किन्तु जिसकी अपेक्षा नहीं कहा गया है, वह सोने की अपेक्षा कहा गया है। इस प्रकार विश्व का प्रत्येक पदार्थ आपेक्षिक कथन द्वारा स्याद्वाद प्रणाली का विषय बनता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हां, यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि एक ही अपेक्षा से विधि-रूप और निषेध-रूप कथन नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति को स्याद्वाद में निश्चित शब्दावली द्वारा व्यक्त किया जाता है और निम्नलिखित सप्तभंगों द्वारा कथन-परम्परा चलती है—

१. स्यात्-अस्ति	कथंचित् है।
२. स्यान्नास्ति	कथंचित् नहीं है।
३. स्यादस्ति-नास्ति	कथंचित् है और नहीं है।
४. स्यादवक्तव्य	कथंचित् कहा नहीं जा सकता है।
५. स्यादस्ति-अवक्तव्य	कथंचित् है, तो भी कहा नहीं जा सकता है।
६. स्यान्नास्ति-अवक्तव्य	कथंचित् नहीं है तो भी कहा नहीं जा सकता है।
७. स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य	कथंचित् है और नहीं है तो भी कहा नहीं जा सकता है।

उक्त भंगों के माध्यम से मुख्य और उपचार कथनशैली द्वारा वस्तु-स्वरूप समझने में सफलता मिलती है और भ्रांत-धारणाओं का उन्मूलन होकर शाश्वत सत्य समझ में आ जाता है।

वस्तु के अनन्त धर्म ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय हैं। इसी तरह शब्द का वाच्य होने से अभिधेय भी हैं। हम जिन-जिन शब्दों द्वारा वस्तु को संबोधित करते हैं, वस्तु में उन-उन शब्दों द्वारा कही जाने वाली शक्तियां विद्यमान हैं। यदि ऐसा न होता तो वे वस्तुयें उन-उन शब्दों के द्वारा संबोधित नहीं होतीं और न उन शब्दों को सुनकर विवक्षित धर्मों का बोध ही होता। स्याद्वाद द्वारा उन धर्मों का अपेक्षाओं को लक्ष्य में रखते हुए कथन किया जाता है, लेकिन वस्तु के अनुजीवी धर्मों में इसका प्रयोग नहीं होता है, जैसे—आत्मा चेतन है, और पुद्गल रूप, रस, गंध एवं वर्ण वाला है। क्योंकि आत्मभूत लक्षणात्मक धर्म आपेक्षिक नहीं होते हैं। यदि उन्हें भी किसी प्रकार आपेक्षिक बनाया जा सके तो फिर उनमें भी स्याद्वाद प्रक्रिया लागू होगी।

सप्तभंगों की सिद्धि

वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्म त्रिकाल-भूत, वर्तमान और भविष्यवर्ती हैं। अतः उनके कथन की प्रक्रिया भी ऐसी होनी चाहिये, जिससे उनका कथन होते रहने के साथ-साथ कथितेतर धर्मों के अस्तित्व आदि का बोध होता रहे एवं उनका अपलाप या अवगणना न हो जाये। इस सार्वकालिक स्थिति का दिग्दर्शन स्याद्वाद द्वारा कराया जाता है और उस स्थिति में स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्तभंग स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं।

इन सप्त भंगों में स्यात्-अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन असंयोगी भंग हैं। स्यादस्ति-नास्ति, स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नास्ति-अवक्तव्य द्विसंयोगी और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य यह त्रिसंयोगी भंग है।

यद्यपि अस्ति और नास्ति रूप स्थिति का अनुभव तो हमें प्रतिसमय होता है और हमारा बर्ताव, व्यवहार दोनों में से किसी एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता के आधार पर चलता रहता है, किन्तु उस स्थिति में भी वस्तु अनन्त धर्मों से विहीन नहीं है। अतः इनकी सत्ता अवक्तव्य शब्द द्वारा प्रगट की जाती है। शेष भंग क्रमिक और युगपत् मुख्यता और गौणता देने से बन जाते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता के आधार पर वाग्-व्यवहार होता है तो उक्त सप्तभंगों के अस्ति, नास्ति इन दो भंगों में से कोई एक भंग रख लिया जाये और दूसरा न माना जाये। यदि इससे काम चल सकता है तो दूसरे भंगों की संख्या भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ेगी। परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि यदि मात्र 'अस्ति भंग' माना जाये और 'नास्ति भंग' न माना जाये तो जो वस्तु एक स्थान पर है, वह अन्य सब स्थानों पर भी रहेगी। इस तरह एक स्थान पर विद्यमान घड़ा भी व्यापक हो जायेगा। इसी तरह केवल 'नास्ति भंग' ही माना जाये तो एक स्थान पर वस्तु का अभाव होने से सर्वत्र उसका अभाव हो जायेगा। एक वस्तु के सम्बन्ध में जो कथन है, उसको सार्वत्रिक समझना चाहिये। इसलिये अस्ति, नास्ति इन दोनों भंगों को पृथक्-पृथक् मानने की आवश्यकता है।

इसके सिवाय इन भंगों का विषय अलग-अलग है। एक का कार्य दूसरे से नहीं हो सकता। जैसे घड़ा यहाँ नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं है कि अमुक स्थान पर घड़ा है। अतः जिज्ञासा का समाधान करने के लिये 'वह कहाँ पर है', इसका ज्ञान कराने के लिए अस्ति भंग आवश्यक है। इसी प्रकार अस्ति-भंग का प्रयोग होने पर भी नास्ति-भंग की आवश्यकता बनी रहती है, जैसे 'मेरी थाली में रोटी है' कह देने पर भी 'तुम्हारी थाली में रोटी नहीं है' कहने की आवश्यकता रहती है क्योंकि ये दोनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार अस्ति, नास्ति इन दोनों भंगों को पृथक्-पृथक् मानना सिद्ध है।

'अस्ति-नास्ति' नामक तृतीय भंग उक्त दोनों भंगों से अलग स्वीकार करना होगा, क्योंकि केवल अस्ति अथवा केवल नास्ति द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता। मिश्रित वस्तु के कथन के लिये मिश्रित शब्द का उपयोग हो सकता है। मिश्रित वस्तु को भिन्न मानना प्रतीत सिद्ध है। जैसे खटमिट्ठा शब्द को ही ले लें। इसमें खट्टा और मीठा दो शब्द संयुक्त हैं और उनकी वाच्य वस्तु के गुण-धर्म भी अलग-अलग हैं। परन्तु उन दोनों के संयोग से एक तीसरे प्रकार की रस-स्थिति व्यक्त होती है जो न खट्टी है और न मीठी है। अतः अस्ति-नास्ति रूप तीसरा भंग पहले बताये गये अस्ति, नास्ति इन दो भंगों से भिन्न है।

अवक्तव्य नामक चौथा भंग है। पदार्थ में विद्यमान अनेक धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते। इसलिये एक साथ स्व-पर-चतुष्टय द्वारा कहे जाने की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। इसके सिवाय वस्तु इसलिये भी अवक्तव्य है कि उसमें जितने धर्म हैं, उतने उसके वाचक शब्द नहीं हैं। धर्म अनन्त हैं और शब्द संख्यात। दूसरी बात यह भी है कि पदार्थ स्वभाव से अवक्तव्य है। वह अनुभव में आ सकता है किन्तु शब्दों से नहीं कहा जा सकता। जैसे मिश्री का मीठापन या नमक का खारापन यदि कोई जानना चाहे तो वह शब्दों द्वारा नहीं किन्तु चखकर ही जाना जा सकता है। इस प्रकार कई अपेक्षाओं से पदार्थ अवक्तव्य है।

यह तो सुविदित ही है कि जिस अपेक्षा से हम वस्तु के 'अस्तित्व' अथवा 'नास्तित्व' का कथन करते हैं, उसकी अपेक्षा वस्तु के होने या न होने के बाद भी अन्य सभी अपेक्षायें अकथनीय रहती हैं और उनका अस्तित्व अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। उन अपेक्षाओं के सद्भाव की अभिव्यक्ति के लिये समानवाचक शब्द का प्रयोग करना पड़ता है।

यद्यपि कई अपेक्षाओं से पदार्थ अवक्तव्य है, फिर भी किसी दृष्टि से वक्तव्य भी हो सकता है। इसलिये जब अवक्तव्य के साथ 'अस्ति', 'नस्ति' और 'आस्ति-नास्ति' को संबद्ध करेंगे तब क्रमशः 'अस्ति-अवक्तव्य,' 'नास्ति-अवक्तव्य' और 'अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' नामक क्रमशः पंचम, षष्ठ और सप्तम भंग बन जाते हैं।

स्याद्वाद और नय

स्याद्वाद के अंग-प्रत्यंग नय हैं। नय न तो प्रमाण हैं और न अप्रमाण हैं किन्तु प्रमाणांश हैं। प्रमाण के द्वारा पूर्ण वस्तु का ज्ञान होता है और नय प्रमाण के द्वारा परिज्ञात वस्तु के एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश को ग्रहण करता है। इसीलिये अनन्त धर्मों से युक्त समग्र वस्तु प्रमाण के द्वारा ज्ञात होने पर भी अपने-अपने अभिप्रायानुसार उस वस्तु के एक धर्मविशेष का ज्ञान कराने वाले को नय कहते हैं।

वैसे तो कोई भी शब्द वस्तु के एक ही धर्म को कह सकता है, फिर भी उस शब्द द्वारा समस्त वस्तु भी कही जा सकती है और एक धर्म भी। इसका पता शब्दों से नहीं, भावों से लगता है। जब हम किसी शब्द के द्वारा पूरे पदार्थ को कहना चाहते हैं, तब वह प्रमाणवाक्य कहा जाता है और जब शब्द द्वारा किसी एक धर्म को कहा जाता है तब वह नयवाक्य माना जाता है। जैसे, जीव शब्द के द्वारा जीवन गुण एवं अन्य अनन्त धर्मों के अखंड पिंडरूप आत्मा का कथन करना प्रमाणवाक्य है, और जब जीव शब्द द्वारा सिर्फ जीवनधर्म का ही बोध किया जाये तो उसे नय-वाक्य कहते हैं। इस वक्तव्य का यह अर्थ हुआ कि प्रमाणदृष्टि से पदार्थ अनेकान्तात्मक है और नयदृष्टि से एकान्तात्मक है, किन्तु वह सर्वथा अनेकान्तात्मक और सर्वथा एकान्तात्मक नहीं है। इस आशय को प्रगट करने के लिये प्रत्येक वाक्य के साथ स्याद्वाद-सूचक स्यात्, कथंचित् अथवा किसी अपेक्षा आदि में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है। यदि हम किसी कारण-वश प्रयोग न भी करें तो भी हमारा अभिप्राय ऐसा रहना चाहिये, अन्यथा यह सब व्यवस्था और उत्पन्न ज्ञान मिथ्या हो जायेगा।

वस्तु अनन्तधर्मात्मिक है, अतएव कथन-पद्धति भी अनन्त होनी चाहिये और जब उनकी वचन-पद्धति अनन्त है तो नय भी उतने ही प्रकार के होंगे। फिर भी उनका समाहार करते हुए और समझने में सरलता की दृष्टि से उन सब वचनपक्षों को अधिक-से-अधिक सात भागों में विभाजित कर दिया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. नैगमनय, २. संग्रहनय, ३. व्यवहारनय, ४. ऋजुसूत्रनय, ५. शब्दनय, ६. समभिरूढ़नय, ७. एवंभूतनय।

इन अनन्त वचनपक्षों का और भी संक्षेप में संग्रह करने के लिये निश्चयनय और व्यवहारनय, इन दो भागों में विभाजन करके वचन-व्यवहार चलता रहता है। पूर्वोक्त ये सातों नय पूर्व-पूर्व स्थूल विषय को और उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय को ग्रहण करने वाले होते हैं। जैसे, नैगमनय सत्-असत् दोनों को विषय करता है, किन्तु संग्रहनय मात्र सत् को ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार क्रमशः अन्यान्य नयों के बारे में भी समझ लेना चाहिये।

स्याद्वाद संपूर्ण जैनेतर दर्शनों का समन्वय करता है। एतदर्थ जैनदर्शनकारों का कथन है कि संपूर्ण दर्शन 'नयवाद' में गर्भित हो जाते हैं, अतएव संपूर्ण दर्शन नय की अपेक्षा से सत्य हैं। उदाहरणार्थ ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा बौद्ध, संग्रहनय की अपेक्षा वेदान्त, नैगमनय की अपेक्षा न्याय-वैशेषिक, शब्दनय की अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी तथा व्यवहारनय की अपेक्षा चार्वाक-दर्शन को सत्य कहा जा सकता है। ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भी समुदित होकर सम्यक्त्व-रूप कहे जाते हैं। जिसप्रकार भिन्न-भिन्न मणियों के एक साथ गूँथे जाने से सुन्दर माला तैयार हो जाती है, उसीतरह जब भिन्न-भिन्न दर्शन सापेक्षवृत्ति धारण करके एक होते हैं, उस समय ये जैनदर्शन कहे जाते हैं। 'स्याद्वाद' परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण करने वाले दर्शनों को सापेक्ष सत्य मानकर सबका समन्वय करता है। इसीलिये जैन विद्वानों ने जिन भगवान के वचनों को 'मिथ्या-दर्शनों का समूह' मानकर 'अमृत का सार' बताया है।

प्रमाण द्वारा गृहीत और नय द्वारा ज्ञात वस्तु और धर्म स्याद्वाद द्वारा अभिधेय हैं। उनमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि सप्तभंग आपेक्षिक दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए समझे जा सकते हैं। इसलिये प्रमाणगृहीत वस्तु में अस्तित्व आदि सप्तभंगी की प्रणाली को प्रमाण-सप्तभंगी और नय द्वारा कथित वस्तु के एक धर्म के बारे में अस्तित्व आदि भंगों का प्रयोग नय-सप्तभंगी कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकान्तिक धारणाएँ और स्याद्वाद

स्याद्वाद द्वारा दार्शनिक एकान्तवादों के समन्वय करने का जो प्रयास किया है, वह प्रायः इस प्रकार हैं—भावैकान्त, अभावैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवाद, अहेतुवाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद आदि।

भावैकान्तवादियों का कथन है कि सब भावरूप ही है, अभावरूप कोई भी वस्तु नहीं है—सर्वं सर्वत्र विद्यते—सब सर्वत्र है, न कोई प्रागभाव रूप है, न प्रध्वंसाभाव रूप है, न अन्योन्याभाव रूप है और न अत्यन्ताभाव रूप है। इसके विपरीत अभाववादी का कहना है कि सब जगत् अभावरूप है—शून्यमय है। जो भावमय समझता है, वह मिथ्या है। यह प्रथम संघर्ष का रूप है।

द्वितीय संघर्ष है एक और अनेक का। एक (अद्वैत) वादी कहता है कि वस्तु एक है, अनेक नहीं है। अनेक का दर्शन केवल माया-विजृम्भित है। इसके विपरीत अनेकवादी सिद्ध करता है कि पदार्थ अनेक हैं—एक नहीं हैं। यदि एक ही हों तो एक के मरने पर सबके मरने और एक के पैदा होने पर सबके पैदा होने का प्रसंग आयेगा। जो न देखा जाता है और न इष्ट ही है।

तृतीय द्वन्द्व है नित्य और अनित्य का। नित्यवादी कहता है कि वस्तु नित्य है। यदि वह अनित्य हो तो उसके नाश हो जाने के बाद फिर यह दुनिया और स्थिर वस्तुयें क्यों दिखाई देती हैं? अनित्यवादी इसके विपरीत कथन करते हुए कहता है कि वस्तु प्रतिसमय नष्ट होती है, वह कभी स्थिर नहीं रहती है। यदि नित्य ही हो तो जन्म-मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि नहीं होने चाहिये।

चौथा दृष्टिकोण सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद को स्वीकार करने का है। सर्वथा भेदवादी का कहना है कि कार्य, कारण, गुण, गुणी, सामान्य और सामान्यवान् आदि सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं, अपृथक् नहीं हैं। यदि अपृथक् हों तो एक का दूसरे में अनुप्रवेश हो जाने से दूसरे का अस्तित्व टिक नहीं सकता है। इसके विपरीत सर्वथा अभेदवादी कहता है कि कार्य, कारण आदि सर्वथा अपृथक् हैं, क्योंकि यदि वे पृथक्-पृथक् हों तो जिस प्रकार पृथक्सिद्ध घट और पट में कार्य-कारणभाव या गुण-गुणीभाव नहीं है, उसी प्रकार कार्यकारण रूप से अभिमतों अथवा गुण-गुणीरूप से अभिमतों में कार्य-कारणभाव और गुण-गुणीभाव कदापि नहीं बन सकता।

पांचवां अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्त का संघर्ष है। अपेक्षैकान्तवादी का मंतव्य है कि वस्तुसिद्धि अपेक्षा से होती है। कौन नहीं जानता है कि प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है और इसलिये प्रमेय प्रमाण-सापेक्ष है। यदि वह उसकी अपेक्षा न करे तो सिद्ध नहीं हो सकता। अनपेक्षावादी का तर्क है कि सब पदार्थ निरपेक्ष हैं, कोई भी किसी की अपेक्षा नहीं रखता। यदि अपेक्षा रखें तो परस्पराश्रय होने से एक भी पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकेगा।

छठवां दृष्टिकोण हेतुवाद और अहेतुवाद का है। हेतुवादी का कथन है कि हेतु-युक्ति से सब सिद्ध होता है, प्रत्यक्षादि से नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से देख लेने पर भी यदि वह हेतु की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है तो कदापि ग्राह्य नहीं माना जा सकता है—'युक्त्यायन्न घटमुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्धे।' अहेतु-आगम-वादी कहता है कि आगम से हरएक वस्तु का निर्णय होता है। यदि आगम से वस्तु का निर्णय न माना जाये तो हमें ग्रहोपरागादि का कदापि ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें हेतु का प्रवेश नहीं है।

सातवां संघर्ष दैव और पुरुषार्थ का है। दैववादी का मत है कि सब कुछ दैव (भाग्य) से होता है। यदि भाग्य में न हो तो कुछ भी नहीं मिल सकता और प्राप्त भी नष्ट हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके विपरीत पुरुषार्थवादी का घोष है कि पुरुषार्थ से ही सब कुछ होता है। बिना पुरुषार्थ के तो भोजन का ग्रास भी मुंह में नहीं जा सकता।

इसी प्रकार के अन्यान्य एकान्तिक संघर्ष भी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वे अपने-अपने दृष्टिकोणों को अपनी-अपनी समर्थक युक्तियों, प्रमाणों द्वारा स्पष्ट भी करते हैं। परन्तु दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और उसका समन्वय करने का प्रयास नहीं करते हैं।

स्याद्वाद इन एकान्तिक दृष्टिकोणों को समझाने का प्रयत्न करने के साथ-साथ समन्वय का मार्ग भी सुझाता है। स्याद्वाद ने सप्तभंगों के माध्यम से एक ऐसी अभिनव विचार एवं कथन शैली व्यक्त की, जिससे सभी एकान्तवादियों का उपसंहार करते हुए उनके कथन की प्रामाणिकता का स्तर निर्धारित किया गया है।

सर्वथा भावात्मक और सर्वथा अभावात्मक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में स्याद्वाद अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए बतलाता है कि वस्तु को कथंचित् भावरूप और कथंचित् अभावरूप मानिये। दोनों को सर्वथा, सब प्रकार से केवल भावात्मक ही मानने में दोष है। क्योंकि केवल भावरूप ही वस्तु को मानने पर प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन अभावों का लोप हो जायेगा और उनके लोप होने पर वस्तु क्रमशः अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और स्वरूपहीन हो जायेगी। इसी प्रकार वस्तु को केवल अभावरूप मानने पर भाव का लोप जायेगा और उसका लोप हो जाने से अभाव का साधक ज्ञान अथवा वचनरूप प्रमाण भी नहीं रहेगा। तब किसके द्वारा भावैकान्त का निराकरण और अभावैकान्त का समर्थन किया जा सकेगा? परस्पर विरुद्ध होने से दोनों एकान्तों का मानना एकान्तवादियों के लिये सम्भव नहीं है और अवाच्यैकान्त तो अवाच्य होने से ही अयुक्त है। अतएव वस्तु कथंचित्-स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्व-भावरूप है और कथंचित्-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्तित्व-अभावरूप है। जैसे घड़ा अपनी अपेक्षा से अस्तित्वरूप है और वस्त्रादि पर पदार्थों की अपेक्षा से नास्तित्व-अभावरूप है। इस तरह उसमें अपेक्षा भेद से दोनों विधि-निषेध धर्म विद्यमान हैं। समस्त पदार्थों की स्थिति इसी प्रकार की है। अतः भाववादी का भी कहना सत्य है और अभाववादी का कथन भी सत्य है परन्तु शर्त यह है कि दोनों को अपने-अपने एकान्ताग्रह को छोड़कर दूसरे की दृष्टि का आदर करना चाहिये।

वस्तु के एक और अनेक विषयक संघर्ष का समाधान करते हुए स्याद्वाद का कथन है कि वस्तु (सर्व पदार्थसमूह) सत्सामान्य (सत्‌रूप) से तो एक है और द्रव्यादि के भेद से अनेक रूप है। यदि उसे सर्वथा एक (अद्वैत) मानी जाये तो प्रत्यक्षदृष्ट कार्य-कारण भेद लुप्त हो जायेगा, क्योंकि एक ही स्वयं उत्पाद्य और उत्पादक दोनों नहीं बन सकता है। उत्पाद्य और उत्पादक दोनों अलग-अलग होते हैं। इसके सिवाय सर्वथा अद्वैत को स्वीकार करने पर पुण्य-पाप का द्वैत, सुख-दुःख का द्वैत, इहलोक-परलोक का द्वैत, विद्या-अविद्या का द्वैत, और बन्ध-मोक्ष का द्वैत आदि नहीं बन सकते। इसी प्रकार यदि वस्तु सर्वथा अनेक ही हो तो सन्तान (पर्यायों और गुणों में अनुस्यूत रहने वाला एक द्रव्य), समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदि कुछ नहीं बन सकेंगे। अतएव दोनों एकान्तों का समुच्चय ही वस्तु है। इसलिये दोनों एकान्तवादियों को अपने एकान्त हठ को त्याग कर दूसरे के अभिप्राय का आदर करना चाहिए। ऐसी स्थिति में पूर्ण वस्तु सिद्ध होती है और विरोध अथवा अन्य कोई दोष उपस्थित नहीं होता।

सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तु को मान्य करने के बारे में स्याद्वाद यथार्थता उपस्थित करते हुए बतलाता है कि वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा से तो वह नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। वस्तु केवल द्रव्य-रूप नहीं है, क्योंकि परिणाम-भेद और बुद्धिभेद पाया जाता है। केवल पर्याय रूप ही नहीं है, क्योंकि यह वही है, जो पहले था,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार का अभ्रांत प्रत्यभिज्ञान-प्रत्यय होता है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो उसमें विकार (परिवर्तन) नहीं बन सकता। इसके साथ ही पुण्य-पाप कर्म और उनका प्रेत्यभावफल (जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि) एवं बन्ध-मोक्ष आदि कुछ नहीं बनते। इसी तरह यदि वस्तु सर्वथा अनित्य हो तो प्रत्यभिज्ञान प्रत्यय न हो सकने से बद्ध को ही मोक्ष आदि व्यवस्था तथा कारण से ही कार्योत्पत्ति आदि सब अस्त-व्यस्त हो जायेगा। जिसने हिंसा का अभिप्राय किया वह हिंसा नहीं कर सकेगा और जिसने हिंसा का अभिप्राय नहीं किया, वह हिंसा करेगा तथा जिसने न हिंसा का अभिप्राय किया और न हिंसा की वह कर्मबन्ध से युक्त होगा तथा उस हिंसा के पाप से मुक्त कोई दूसरा होगा, क्योंकि वस्तु सर्वथा अनित्य, क्षणिक है। अतएव वस्तु को जो द्रव्य-पर्याय रूप है, द्रव्य की अपेक्षा से तो नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य दोनों रूप स्वीकार करना चाहिए। तभी हिंसा का अभिप्राय वाला ही हिंसा करता है और वही हिंसक, हिंसाफल भोक्ता एवं उससे मुक्त होता है आदि व्यवस्था सुसंगत हो जाती है।

अतः इन नित्य, अनित्य आदि सभी एकान्तवादी दार्शनिकों को सर्वथा एकान्त के आग्रह को छोड़कर दूसरे की दृष्टि को भी समझना और अपनाना चाहिये। इस तरह स्याद्वाद ने उन सभी उपस्थित संघर्षों का शमन किया है जो समन्वय के अभाव में परस्पर विरोधी बनकर विषाक्त चिन्तन के वातावरण के निर्माण में तत्पर रहे हैं। स्याद्वाद का स्पष्ट कथन है कि भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि जो दृष्टिभेद हैं, वे सर्वथा मानने से दुष्ट (विरोधादि दोष-युक्त) होते हैं और स्यात्-कथंचित् (एक अपेक्षा से) मानने से पुष्ट होते हैं—वस्तुस्वरूप का पोषण करते हैं। अतएव सर्वथा नियम के त्याग और अन्य दृष्टि की अपेक्षा रखने वाले 'स्यात्' शब्द के प्रयोग अथवा स्यात् की मान्यता को जैनदर्शन में स्थान दिया गया है एवं निरपेक्ष नयों को मिथ्या तथा सापेक्ष नयों को सम्यक् बतलाया गया है।

आगमों में स्याद्वाद और भंगों का रूप

आचार्य सिद्धसेन, समन्तभद्र प्रभृति महान् जैन दार्शनिक आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों के आधार पर ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी से अनेकान्त-व्यवस्थायुग का प्रारम्भ होना कहा जा सकता है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसको विशेष रूप से पल्लवित किया है। जान पड़ता है उस समय के जैन आचार्य अपने सिद्धान्तों पर होने वाले प्रतिपक्षियों के प्रहारों से सतर्क हो गये थे और अनेकान्तवाद को सप्तभंगी का तार्किक रूप देकर जैन सिद्धान्तों की रक्षा के लिये प्रवृत्तिशील होने लगे थे।

आज के परिष्कृत रूप में विद्यमान स्याद्वाद के बीज प्राचीन आगमों में विद्यमान हैं। ज्ञातृ-धर्मकथा और भगवतीसूत्र में तो अनेकान्तवाद सम्बन्धी विचार प्रायः देखने को मिलते हैं। वहाँ एक ही वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा 'एक', ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से 'अनेक', किसी अपेक्षा से 'अस्ति', किसी अपेक्षा से 'नास्ति', और किसी अपेक्षा से 'अवक्तव्य' कहा गया है। आगमों की त्रिपदी (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य), सिय अत्थि, सिय णत्थि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि स्याद्वादसूचक शब्दों का अनेक स्थानों पर उल्लेख पाया जाता है। आगम ग्रंथों पर रचित भद्रबाहु की निर्युक्तियों में भी उन्हीं विचारों को विशेष रूप से प्रस्फुटित किया गया है। इसके बाद आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र और तत्त्वार्थ-भाष्य में अनेकान्तवाद, विशेषकर नयवाद की विस्तृत रूप में चर्चा पाई जाती है। वहाँ अर्पित, अनर्पित नयों के भेदों, उपभेदों का वर्णन विस्तार से किया गया है।

इस प्रकार आगमों और तत्सम्बन्धी निर्युक्तियों आदि में स्याद्वाद विषयक संकेतों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराने के बाद अब कुछ विशेष कथन प्रस्तुत किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व में यह संकेत किया गया है कि विचार के साथ ही दर्शन का प्रारम्भ हुआ। विश्व के स्वरूप, उसकी उत्पत्ति आदि के बारे में नाना प्रकार के प्रश्न और उनका समाधान विविध प्रकार से प्राचीन काल से होता आया है। इसके साक्षी ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् आदि समस्त दार्शनिक सूत्र एवं टीका ग्रंथ आदि हैं।

ऋग्वेद में दीर्घतमा तपस्वी विश्व के मूल कारण और स्वरूप की खोज में लीन होकर प्रश्न करता है कि इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इसको कौन जानता है? अंत में वह कहता है कि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' सत् तो एक ही है किन्तु विद्वान उसका वर्णन कई प्रकार से करते हैं, अर्थात् एक ही तत्त्व के विषय में नाना प्रकार के विचार, वचनप्रयोग देखे जाते हैं। इस वचनप्रयोग में मनुष्य-स्वभाव की उस विशेषता के दर्शन होते हैं, जिसे हम समन्वयशीलता कहते हैं। इसी समन्वयशीलता का शास्त्रीय रूप स्याद्वाद है।

विश्व के कारण की जिज्ञासा में से ही अनेक विरोधी मतवाद उत्पन्न हुए, जिनका निर्देश उपनिषदों में हुआ है। जिसको जैसा सूझ पड़ा, उसने वैसा कहना शुरू कर दिया। इस प्रकार मतों का एक जाल बन गया किन्तु उन सभी मतवादियों का समन्वय स्याद्वाद द्वारा हो जाता है।

विश्व का मूल कारण क्या है? वह सत् है या असत् है। सत् है तो पुरुष है या पुरुषेतर--जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि में से कोई एक? इन प्रश्नों का उत्तर उपनिषदों के ऋषियों ने अपनी-अपनी बौद्धिक प्रतिभा से दिया और नाना मतवादों की सृष्टि खड़ी कर दी। किसी के मत से असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। किसी के मत से सत् से असत् की उत्पत्ति हुई। सत्कारणवादियों ने कहा कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सर्व-प्रथम एक अद्वितीय सत् ही था, उसी ने सोचा मैं अनेक होऊँ और क्रमशः सृष्टि की उत्पत्ति हुई। लेकिन सत्कारणवादियों में भी मतैक्य नहीं था। किसी ने जल को, किसी ने वायु को, किसी ने अग्नि को, किसी ने आकाश को और किसी ने प्राण को विश्व का मूल कारण माना। इन सभी वादों का सामान्य तत्व यह है कि विश्व के मूलकारण रूप में कोई आत्मा या पुरुष नहीं। इन सभी वादों के विरुद्ध अन्य ऋषियों का मत है कि इन जड़तत्वों से सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती, मूल में कोई चेतनतत्व कर्ता होना चाहिये। किसी के मत से प्रजापति से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। किसी ने आत्मा को मूल कारण मानकर उसी में से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति के द्वारा क्रमशः संपूर्ण विश्व की सृष्टि मानी। किसी ने आत्मा को उत्पत्ति का कर्ता नहीं, किन्तु कारणमात्र माना। किसी ने ईश्वर को ही जगत्कर्ता माना और उसी को मूलकारण कहा।

इस विषय में संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि किसी के मत से असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, किसी के मत से विश्व का मूल तत्व सत् है। किसी के मत से वह सत् जड़ है और किसी के मत से वह तत्व चेतन। इनके अलावा किन्हीं ने काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष, इन सभी का संयोग और आत्मा इन में से किसी एक को कारण माना है।

इन नाना वादों में से आगे चलकर आत्मवाद की मुख्यरूप से प्रतिष्ठा हुई और उपनिषदों के ऋषि अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि विश्व का मूलकारण या परम तत्व आत्मा ही है। परमेश्वर को भी जो आत्मा का आदि कारण है, आत्मस्थ देखने को कहा है। उपनिषदों का ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं है किन्तु आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा कहा गया है। इसी आत्मतत्व, ब्रह्म-तत्व को जड़ और चेतन जगत का उपादानकरण, निमित्तकरण या अधिष्ठान मानकर दार्शनिकों ने केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत का समर्थन किया है।

इसके साथ ही उपनिषद्काल में कुछ लोग पृथ्वी आदि महाभूतों से आत्मा का समुत्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और महाभूतों में ही लय मानने वाले भी थे। इसकी चर्चा भी उपनिषदों में देखने को मिलती है। यह भूतवाद तत्कालीन आत्मवाद के प्रचार को प्रभावहीन करने में समर्थ नहीं हुआ और स्वयमेव निष्क्रिय होकर हतप्रभ-सा हो गया। परन्तु भगवान् बुद्ध ने इस उपनिषद्-कालीन आत्मवाद के प्रभाव को अपने अनात्मवाद के उपदेश द्वारा मंद किया। जितने वेग से आत्मवाद का प्रचार हुआ, उतने ही वेग से भगवान् बुद्ध ने इसको निरस्त करने का प्रयत्न किया।

भगवान् बुद्ध विभज्यवादी थे। अतः उन्होंने रूप आदि ज्ञात वस्तुओं तथा वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि को अपने तर्कों द्वारा एक-एक करके अनात्म सिद्ध किया। भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद का यह तात्पर्य है कि उन्हें शरीरात्मवाद ही नहीं, किन्तु सर्वव्यापी, शाश्वत् आत्मवाद भी अमान्य था। उनके मत में न तो आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा शरीर से अभिन्न ही है। उन्हें चार्वाक-सम्मत भौतिकवाद और उपनिषदों का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त प्रतीत होता था। शाश्वत, कूटस्थ आत्मा मरकर पुनः जन्म लेती है और संसरण करती है, ऐसा मानने से शाश्वतवाद होता है। यदि ऐसा माना जाये कि माता-पिता के संयोग से महाभूतों से आत्मा उत्पन्न होती है और इसीलिये शरीर नष्ट होने पर आत्मा भी उच्छिन्न, विनष्ट और लुप्त हो जाती है तो यह उच्छेदवाद होता है। अतएव बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को छोड़कर मध्यममार्ग-अशाश्वतानुच्छेदवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद का उपदेश दिया। जैसे क्या दुःख स्वकृत है, परकृत है, स्वपरकृत है या अस्वपरकृत है? इन प्रश्नों के उत्तर भगवान् बुद्ध ने 'नहीं' में दिये और इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा कि दुःख स्वकृत है, ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जिसने किया वह भोग करता है, यह शाश्वतवाद का अवलंबन हुआ। यदि परकृत कहें तो ऐसा कहने का मतलब होता है कि किया किसी दूसरे ने और भोग करता है कोई अन्य। ऐसी स्थिति में उच्छेदवाद आ जाता है। अतएव शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों अंतों को छोड़कर मध्यममार्ग को ग्रहण करना योग्य है।

इसका तात्पर्य यह है कि संसार में सुख-दुःख, जन्म-मरण, बंध-मुक्ति आदि सब होते हुए भी इनका कोई स्थिर आधार आत्मा हो ऐसा नहीं है, परन्तु ये अवस्थायें पूर्व-पूर्व कारण से उत्तर-उत्तर काल में होती हैं और नये कार्य को उत्पन्न कर नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार संसारचक्र चलता रहता है। पूर्व का सर्वथा उच्छेद भी इष्ट नहीं और ध्रौव्य भी इष्ट नहीं। उत्तर पूर्व से सर्वथा असंबद्ध हो, यह बात भी नहीं किन्तु पूर्व के अस्तित्व के कारण उत्तर होता है, पूर्व की शक्ति उत्तर में आ जाती है। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नहीं और अभिन्न भी नहीं किन्तु अव्याकृत है, क्योंकि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद होता है और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है। बुद्ध को ये दोनों वाद मान्य न थे। अतएव उन्होंने ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत कहकर उत्तर दिया।

इस संसारचक्र के नाश का क्या उपाय है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध ने बताया—पूर्व का निरोध करना। कारण के नाश होने पर कार्य उत्पन्न नहीं होगा। जैसे अविद्या का निरोध होने पर संस्कार का निरोध, संस्कार का निरोध होने से विज्ञान का निरोध और इस प्रकार एक से दूसरे का क्रमशः निरोध होकर अंत में जन्म के निरोध होने पर मरण का निरोध हो जाता है।

इस स्थिति में मरणान्तर तथागत बुद्ध का क्या होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् बुद्ध ने 'अव्याकृत है' ऐसा कहा है। वह इसलिये कि मरणोत्तर तथागत होता है तो शाश्वतवाद का और नहीं होता है तो उच्छेदवाद का प्रसंग आता है। अतएव दोनों वादों का निषेध करने के लिये भगवान बुद्ध ने तथागत की मरणोत्तर दशा को 'अव्याकृत' कहा। जिस रूप, वेदना आदि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण तथागत की प्रज्ञापना होती थी वे रूप आदि तो प्रहीण हो गये, अब उनकी प्रज्ञापना का कोई साधन नहीं रहा, अतएव वे अव्याकृत हैं।

इस प्रकार जैसे उपनिषदों में आत्मवाद की पराकाष्ठा के समय आत्मा या ब्रह्म को 'नेति-नेति' द्वारा अवक्तव्य प्रतिपादित किया, उसे सभी विशेषणों से परे बताया, ठीक उसी प्रकार बुद्ध ने भी आत्मा के विषय में उपनिषदों से सर्वथा विपरीत दृष्टि का अनुसरण कर उसे 'अव्याकृत' माना है। फिर भी जैसे उपनिषदों में परम तत्व को अवक्तव्य मानते हुए भी अनेक प्रकार से आत्मा का वर्णन किया गया है और वह व्यवहारिक माना गया है, वैसे ही बुद्ध ने भी कहा है कि लोक-संज्ञा, लोक-निरुक्ति, लोक-व्यवहार, लोक-प्रज्ञप्ति का आश्रय लेकर कहा जा सकता है कि 'मैं पहले था, नहीं था, ऐसा नहीं; मैं भविष्य में होऊँगा, नहीं होऊँगा, ऐसा नहीं; मैं अब हूँ, नहीं हूँ, ऐसा नहीं।' ऐसी भाषा का प्रयोग करते हुए भी बुद्ध उसमें कहीं फँसते नहीं थे।

तत्कालीन दार्शनिक-चिन्तन के क्षेत्र की स्थिति इस प्रकार की थी। भगवान महावीर ने तत्व के स्वरूप के विषय में उठने वाले नये-नये प्रश्नों का स्पष्टीकरण तत्कालीन अन्यान्य दार्शनिकों के विचारों के प्रकाश में किया। यही उनकी दार्शनिक क्षेत्र में नई देन है, जिसका संकेत आगमों में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलता है। अतएव आगमों के आधार पर अब उस नई देन के बारे में विचार करते हैं।

आगमों के अनुसार भगवान महावीर को 'केवलज्ञान' होने के पूर्व जिन दस महास्वप्नों के दर्शन हुए थे, उनमें तीसरा स्वप्न 'चित्र-विचित्रपक्षयुक्त पुंस्कोकिल' देखना था। भगवतीसूत्र में इसका फल यह बतलाया गया है कि भगवान महावीर विचित्र ऐसे स्व-पर सिद्धान्त को बतलाने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे। यहां 'विचित्र' विशेषण से यह तात्पर्य लिया गया मालूम होता है कि उनका उपदेश अनेकरंगी-अनेकान्तवादात्मक होगा।

भिक्षु के भाषाप्रयोग के प्रसंग में सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि उसे विभज्यवाद का उपयोग करना चाहिए। इस विभज्यवाद का ठीक से अर्थ समझने में जैन टीका ग्रंथों के अतिरिक्त बौद्ध-ग्रंथ सहायक हो सकते हैं। बुद्ध ने अपने को विभज्यवादी बतलाया है, एकांशवादी नहीं, जो मज्झिम-निकाय (सुत्त ९९) में शुभमाणवक के प्रश्नों के उत्तरों से प्रगट होता है। उन उत्तरों में उन्होंने त्यागी या गृहस्थ की आराधकता और अनाराधकता में जो अपेक्षा या कारण था, उसे बताकर दोनों को आराधक या अनाराधक बताया है। अर्थात् प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया है। अतएव वे अपने को विभज्यवादी कहते हैं। परन्तु यहाँ यह विशेष ध्यान रखना चाहिये कि भगवान बुद्ध ने उन्हीं प्रश्नों का उत्तर विभज्यवाद के आधार पर दिया, जिनका उत्तर विभज्यवाद से ही संभव था। वे कुछ प्रश्नों का उत्तर देते समय ही विभज्यवाद का अवलंबन लेते थे, सभी प्रश्नों के उत्तरों में विभज्यवादी नहीं थे। भगवान बुद्ध के विभज्यवाद का क्षेत्र सीमित था और भगवान महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक है। यही कारण है कि जैन-दर्शन आगे जाकर अनेकान्तवाद में परिणत हो गया और बौद्ध-दर्शन किसी अंश में विभज्यवादी होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अग्रसर हुआ।

मज्झिमनिकाय सुत्त ९९ से एकांशवाद और विभज्यवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट सूचित हो जाता है और जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद करते हैं। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांगगत विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद, नयवाद, अपेक्षावाद या विभाजन करके किसी तत्व के विवेचन का वाद लिया जाना ठीक है। अपेक्षाभेद से स्यात् शब्दांकित प्रयोग आगमों में देखे जाते हैं। एकाधिक भंगों का स्याद्वाद भी आगमों में मिलता है। अतः आगमकालीन अनेकान्तवाद या विभज्यवाद को स्याद्वाद कहा जाना उचित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर का विभज्यवाद भगवतीसूत्र-गत प्रश्नोत्तरों (७-२-२७०, १२-२-४४३, १-८-७२) आदि से स्पष्ट हो जाता है। भगवान बुद्ध के विभज्यवाद से तुलना करने के लिये और भी सूत्र-संख्याओं का संकेत किया जा सकता है, लेकिन यहाँ इतने ही पर्याप्त हैं। उनमें यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि भगवान महावीर ने अपने विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक बनाया। उन्होंने विरोधी धर्मों को अर्थात् अनेक अंतों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से घटाया है। इसी कारण से विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। तिर्यक् सामान्य की अपेक्षा से होने वाली पर्यायों में विरोधी धर्मों को स्वीकार करना, यह भगवान बुद्ध के विभज्यवाद का मूलाधार है, जबकि तिर्यक् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकार के सामान्यों की पर्यायों में विरोधी धर्मों को स्वीकार करना अनेकान्तवाद, स्याद्वाद का मूलाधार है।

भगवान महावीर के द्वारा की गई अनेकान्तवाद की प्ररूपणा में तत्कालीन दार्शनिकों में से भगवान बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध ने तत्कालीन वादों से अलिप्त रहने के लिये जो दृष्टि अंगीकार की थी, उसी में अनेकान्तवाद का बीज है। जीव, जगत् और ईश्वर के नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विषय के होने वाले प्रश्नों को भगवान बुद्ध ने अव्याकृत (विवेचन करने योग्य नहीं) बता दिया था, जब कि भगवान महावीर ने उन्हीं प्रश्नों का व्याकरण (विवेचन) अपनी पैनी दृष्टि से किया अर्थात् अनेकान्तवाद के आश्रय से उनका समाधान किया। इन प्रश्नों के समाधान से उनको जो दृष्टि सिद्ध हुई, उसी का सार्वत्रिक विस्तार करके उन्होंने अनेकान्तवाद को सर्ववस्तुव्यापी बना दिया। भगवान बुद्ध दो विरोधी वादों को देखकर उन से बचने के लिए अपना तीसरा मार्ग उनकी अस्वीकृति में ही सीमित करते थे जबकि भगवान महावीर उन दोनों विरोधी वादों का समन्वय करके उनकी स्वीकृति में अपने नये मार्ग-अनेकान्तवाद, स्याद्वाद की स्थापना करते थे।

भगवान बुद्ध ने 'क्या लोक शाश्वत है,' 'क्या अशाश्वत है,' आदि (मज्झिमनिकाय चूल-मालुंक्य सुत्त ६३) जिन प्रश्नों को अव्याकृत कहा है, उनका (१) लोक की नित्यता-अनित्यता और सान्तता-निरन्तता, (२) जीव-शरीर का भेद-अभेद, (३) तथागत की मरणोत्तर स्थिति-अस्थिति अर्थात् जीव की नित्यता-अनित्यता इन बातों में समावेश हो सकता है। भगवान बुद्ध के समय ये महान प्रश्न थे। इनके बारे में भगवान बुद्ध ने अपना मत देते हुए भी विधायक रूप में कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि 'नित्य' आदि स्वीकार करने में शाश्वत और 'अनित्य' आदि स्वीकार करने में उच्छेदवाद को स्वीकार करना पड़ता था। इसलिये अपने नये वाद का कुछ नाम न देते हुए 'दोनों वाद ठीक नहीं' ऐसा कहकर वे रह गये और ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत बता दिया।

भगवान बुद्ध के ऐसा करने का कारण स्पष्ट है। तत्कालीन प्रचलित वादों के दोषों की ओर ही उनकी दृष्टि गई। इसीलिये उनमें से किसी वाद का अनुयायी होना उन्होंने पसंद नहीं किया और अशाश्वतानुच्छेदवाद को ही स्वीकार किया। इस प्रकार प्रकारान्तर से उन्होंने अनेकान्त-वाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

इसके विपरीत भगवान महावीर ने उन वादों के दोषों और गुणों दोनों की मीमांसा की। प्रत्येक वाद का गुण-दर्शन तो उस वाद के स्थापक ने और दोष-दर्शन भगवान् बुद्ध ने करा दिया। इस प्रकार भगवान महावीर के सामने उन वादों के गुण और दोष दोनों आ गये। दोनों पर मध्यस्थ दृष्टि देने पर अनेकान्तवाद-स्याद्वाद स्वतः सिद्ध हो जाता है। उन्होंने तत्कालीन वादों के गुण-दोषों की परीक्षा करके जिस वाद में जितनी सचाई थी, उसे उतनी मात्रा में स्वीकार करके सभी वादों का समन्वय करने का प्रयास किया। यही भगवान महावीर का अनेकान्तवाद-स्याद्वाद सिद्धान्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् बुद्ध जिन प्रश्नों का उत्तर विधि रूप से नहीं देना चाहते थे, उनका उत्तर देने में भगवान् महावीर अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर समर्थ हुए। उन्होंने प्रत्येक वाद की पृष्ठभूमि, उसकी मर्यादा, उत्थान होने की अपेक्षा को समझने का प्रयत्न किया और फलितार्थ को नयवाद के रूप में दार्शनिकों के समक्ष रखा और यह नयवाद अनेकान्तवाद—स्याद्वाद का मूलाधार बन गया।

भगवान् बुद्ध द्वारा 'अव्याकृत' माने गये धर्म आपेक्षिक हैं और अनेकान्तवाद द्वारा आपेक्षिक धर्मों का अपेक्षादृष्टि से कथन होता है। अतएव भगवान बुद्ध द्वारा अव्याकृत माने गये प्रश्नों के सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में विवेचन किया जाता है।

भगवान बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों में से प्रथम चार लोक की नित्यता (शाश्वतता)-अनित्यता (अशाश्वतता) और सान्तता-अनन्तता से सम्बन्धित हैं। उनमें से लोक की सान्तता और अनन्तता के विषय में भगवान् महावीर द्वारा किया गया स्पष्टीकरण भगवतीसूत्र के स्कन्दक परिव्राजक के अधिकार (२-१-६) में उपलब्ध है—लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त और पर्यायों की अपेक्षा अनन्त है। काल की अपेक्षा से लोक अनन्त और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है। यहाँ मुख्यतः सान्त और अनन्त शब्दों को लेकर अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है।

लोक की शाश्वतता और अशाश्वतता के बारे में भगवान् महावीर का अनेकान्तवादी मंतव्य इस प्रकार है कि लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। त्रिकाल में ऐसा एक भी समय नहीं, जब लोक किसी-न-किसी रूप में न हो, अतएव वह शाश्वत है। लोक अशाश्वत भी है, क्योंकि लोक सदैव एक रूप नहीं रहता है। उसमें अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी के कारण अवनति और उन्नति होती रहती है। सर्वथा शाश्वत में परिवर्तन नहीं होता है, अतएव उसे अशाश्वत भी मानना चाहिए। यहाँ लोक का मतलब है, जिसमें पाँच अस्तिकाय—धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल हैं।

भगवान् बुद्ध ने 'जीव और शरीर का भेद है या अभेद है' इस प्रश्न को अव्याकृत माना है। इस विषय में भगवान महावीर ने (भगवती० १३-७-४९५) आत्मा को शरीर से अभिन्न भी कहा है और भिन्न भी कहा है। उक्त कथन पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—यदि शरीर आत्मा से अभिन्न है तो आत्मा की तरह शरीर को भी अरूपी और सचेतन होना चाहिए। इसके उत्तर में कहा है कि शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है। वह सचेतन भी है और अचेतन भी है। जब शरीर आत्मा से पृथक् माना जाता है, तब वह रूपी और अचेतन है और जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है, तब वह अरूपी और सचेतन है।

भगवान बुद्ध के मत से यदि शरीर को आत्मा से भिन्न माना जाये, तब ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं और अभिन्न माना जाये तब भी ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं, किन्तु इन दोनों का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा कि यदि आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न माना जाये, तब काय-कृत कर्मों का फल उसे नहीं मिलना चाहिए। अत्यन्त भेद मानने पर अकृतागम दोष आ जाता है और यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाये तो शरीर का दाह हो जाने पर आत्मा भी नष्ट होगी, जिससे परलोक सम्भव नहीं रहेगा। इस प्रकार कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी, परन्तु एकान्त भेद और एकान्त अभेद मानने पर जो दोष होते हैं, वे उभयवाद मानने पर नहीं होते।

दूसरी बात यह है कि जीव और शरीर का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में मौजूद रहती है या सिद्धावस्था में अशरीरी आत्मा भी होती है। अभेद इसलिए मानना चाहिए कि संसारावस्था में शरीर और आत्मा का सम्बन्ध नीरक्षीरवत् होता है। इसीलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन होता है। कायिक कर्म का विपाक आत्मा में होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत्यु के बाद तथागत होते हैं या नहीं (जीव की नित्यता-अनित्यता), इस प्रश्न को भगवान बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में रखा है, किन्तु भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर कहा कि तथागत मरणोत्तर भी हैं। क्योंकि जीव द्रव्य नष्ट नहीं होता है, वह सिद्धस्वरूप बनता है, किन्तु मनुष्य, पशु आदि रूप जो कर्म-कृत भाव-पर्याय है, वह नष्ट हो जाती है, इसलिए अनित्य है। जीव द्रव्य का कभी विच्छेद नहीं होता है, इस दृष्टि से जीव नित्य है और जीव की मनुष्य, पशु आदि नाना अवस्थायें जो स्पष्ट रूप से विच्छिन्न होती हुई दिखाई देती हैं, उनकी अपेक्षा अनित्य है।

भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद के माध्यम से जिस प्रकार भगवान बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों का समाधान किया, वैसे ही उन्होंने द्रव्य-पर्याय का भेदाभेद, जीव-अजीव की एकता-अनेकता (एक-अनेक), परमाणु की नित्यता-अनित्यता, अस्ति-नास्ति आदि विरोधी युगलों का अनेकान्तवाद के आश्रय से समाधान कर उन-उनकी प्रतिष्ठा की है, जिससे उत्तरवर्ती दार्शनिक विकास के युग में सामान्य-विशेष, द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, द्रव्य और जाति आदि अनेक विषयों में भेदा-भेद की चर्चा हुई।

इस प्रकार देखते हैं कि भगवान् बुद्ध के सभी अव्याकृत प्रश्नों की विवेचना भगवान महावीर ने विधिमार्ग को स्वीकार करके की और अनेकान्तवाद को प्रतिष्ठित किया। एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से अनेक सम्भावित विरोधी धर्मों को घटाया गया, यही अनेकान्तवाद का मूलाधार है। यद्यपि भगवान बुद्ध ने भी समन्वयशीलता और अनेकान्तवादिता का प्रदर्शन किया, परन्तु यह सीमित ही रहा। भगवान महावीर ने उसका व्यापक क्षेत्र में प्रयोग किया और अनेकान्तवाद के प्रज्ञापक हुए।

पूर्वोक्त कथन से यह तो स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद और विभज्यवाद में दो विरोधी धर्मों को समान भाव से स्वीकार किया गया है और इसीलिये वे दोनों पर्याय शब्द मान लिये गये। किसी-न-किसी अपेक्षा-विशेष से दो विरोधी धर्मों को स्वीकार किया जा सकता है, उस भाव को सूचित करने के लिए वाक्य में 'स्यात्' शब्द जोड़ा जाता है। इसी कारण अनेकान्तवाद स्याद्वाद के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जिस वाक्य में साक्षात् अपेक्षा का उपादान हो वहाँ तो 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं भी किया जाता, किन्तु जहाँ अपेक्षा का साक्षात उत्पादन नहीं है, वहां स्यात शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अब ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हैं कि स्याद्वाद का बीज आगमों में है या नहीं। प्रोफेसर उपाध्ये के मत से 'स्याद्वाद' यह शब्द आगमों में है। उन्होंने सूत्रकृतांग सूत्र भाग–१, अध्ययन १४, गाथा, १९ में न या सियावाय अंश से इस शब्द को फलित किया है। टीकाकार ने इस अंश का 'न चाशीर्वाद' ऐसा संस्कृत प्रतिरूप दिया है। किन्तु प्रो० उपाध्ये के मत से वह 'न चास्याद्वाद' होना चाहिए। उनका कहना है कि आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अनुसार आशिष शब्द का प्राकृत रूप 'आसी' होना चाहिए। स्वयं हेमचन्द्र ने 'आसीया' ऐसा दूसरा रूप दिया है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्याद्वाद के लिए प्राकृत रूप 'सियावाओ' दिया है। यदि इस सियावाओ शब्द पर ध्यान दिया जाये तो उक्त गाथा में अस्याद्वाद वचन के प्रयोग का ही निषेध मानना ठीक होगा। यदि टीकाकार के अनुसार आशीर्वचन के प्रयोग का निषेध माना जाये तो कथानकों में जो धर्मलाभ रूप आशीर्वादात्मक वचन का प्रयोग मिलता है, वह असंगत होगा।

इस प्रकार आगमों में 'स्याद्वाद' इस पूरे शब्द के अस्तित्व के बारे में किसी को मतभेद हो सकता है, किन्तु 'स्यात्' शब्द के अस्तित्व में मतभेद नहीं है। इसलिए स्यात् शब्द के प्रयोग के कारण जैनागमों में स्याद्वाद का अस्तित्व सिद्ध ही मानना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्पर विरोधी धर्मों को एक ही धर्म में स्वीकार किया जाये, इस प्रकार की समन्वयात्मक भावना से अनेकान्तवाद का जन्म हुआ। किसी भी विषय में प्रथम अस्ति-विधि पक्ष होता है तब कोई दूसरा उस पक्ष का नास्ति-निषेध पक्ष लेकर खंडन करता है। अतएव समन्वयकर्ता के समक्ष जब तक दोनों पक्ष उपस्थित न हों, तब तक समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार अनेकान्तवाद-स्याद्वाद के मूल में 'अस्ति और नास्ति' पक्ष का होना आवश्यक है। इसीलिए स्याद्वाद के भंगों में सर्वप्रथम अस्ति, नास्ति इन दोनों को स्थान मिलना स्वाभाविक है।

यदि भंगों के साहित्यिक इतिहास की ओर ध्यान दें तो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भंगों का कुछ आभास मिलता है। उक्त सूक्त के ऋषि के समक्ष दो मत थे। कोई जगत् के आदि कारण को सत् कहते थे और कोई असत्। इस प्रकार जब ऋषि के समक्ष यह सामग्री उपस्थित हुई, तब उन्होंने कह दिया कि वह सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है। उनका यह निषेधपरक उत्तर भी एक पक्ष में परिणत हो गया। इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय (अन्+उभय) ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने प्राचीन सिद्ध हो गये।

उपनिषदों के समय में जब आत्मा या ब्रह्म को परम तत्व मानकर विश्व को उसी का प्रपंच मानने की प्रवृत्ति हुई तब यह स्वाभाविक था कि अनेक विरोधों की भूमि ब्रह्म या आत्मा ही बने। परिणामतः आत्मा या ब्रह्म और ब्रह्मरूप विश्व को ऋषियों ने अनेक विरोधी धर्मों से अलंकृत किया। परन्तु जब उन विरोधों के तार्किक समन्वय में भी उन्हें संतोष नहीं मिला तब उसे वचनागोचर-अवक्तव्य बताकर अनुभवगम्य कह दिया। यदि इस प्रक्रिया को ध्यान में रखा जाये तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (कठोपनिषद्), 'सदसद्वरेण्यम्' (मुण्डकोपनिषद्) आदि उपनिषद् वाक्यों में किसी एक ही धर्मी में परस्पर विरोधी दो धर्मों को स्वीकार किया गया है। विधि और निषेध दोनों पक्षों का विधि-मुख से समन्वय हुआ है।

ऋग्वेद के ऋषि ने दोनों विरोधी पक्षों को अस्वीकृत करके निषेधमुख के तीसरे अनुभय पक्ष को उपस्थित किया है और उपनिषदों के ऋषियों ने दोनों विरोधी धर्मों को स्वीकृति द्वारा उभयपक्ष का समन्वय कर विधिमुख से चौथे उभय भंग का आविष्कार किया। जब परम तत्व को इन धर्मों का आधार मानने पर भी विरोधों की गन्ध आने लगी तो अन्त में उन्होंने दो मार्ग ग्रहण किये। जिन धर्मों को दूसरे लोग स्वीकार करते थे, उनका निषेध कर देना अर्थात् ऋग्वेद की तरह अनुभय (अन्+उभय) पक्ष का अवलंबन लेकर उत्तर दे देना कि न वह सत् है और न असत् है। यह प्रथम मार्ग हुआ। जब इसी निषेध को नेति-नेति के चरम तक पहुँचाया, तब उसमें से फलित हो गया कि वह अवक्तव्य है। यह दूसरा मार्ग हुआ।

इस चर्चा का फलितार्थ यह है कि जब दो विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं, तब उसके उत्तर में तीसरा तक्ष तीन प्रकार से हो सकता है—(१) उभय विरोधी पक्षों को स्वीकार करने वाला (उभय), (२) उभय पक्ष को निषेध करने वाला (अनुभय) और (३) अवक्तव्य। इनमें से तीसरे प्रकार दूसरे प्रकार का विकसित रूप है, अतएव अनुभय और अवक्तव्य को एक ही भंग समझना चाहिए।

इस अवक्तव्य और वस्तु की सर्वथा अवक्तव्यता के पक्ष को व्यक्त करने वाले अवक्तव्य के भेद में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रथम को सापेक्ष अवक्तव्य और दूसरे को निरपेक्ष अवक्तव्य कह सकते हैं। सापेक्ष अववतव्य अर्थात् किसी वस्तु में दो या अधिक धर्मों को कहने के लिये तदर्थ शब्द की खोज करते हैं तो उनके वाचक भिन्न-भिन्न शब्द तो मिल जाते हैं किन्तु उन शब्दों के क्रमिक प्रयोग से विवक्षित सभी धर्मों का युगपत् बोध नहीं हो पाता, अतएव उसे अवक्तव्य कह देते हैं। निरपेक्ष अवक्तव्यता से यह प्रतिपादित किया जाता है कि वस्तु का पार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्थिक रूप ही ऐसा है, जो शब्द-ग्राह्य नहीं। अतएव उसका वर्णन नहीं किया जा सकता अर्थात् सापेक्ष अवक्तव्यता का आधार वचनप्रयोग है और निरपेक्ष अवक्तव्यता का आधार वस्तु का पारमार्थिक रूप है।

स्याद्वाद के भंगों में जो अवक्तव्य भंग है, वह सापेक्ष अवक्तव्य है और वक्तव्यत्व-अवक्तव्यत्व ऐसे दो विरोधी धर्मों को लेकर जैनाचार्यों ने जो स्वतंत्र सप्तभंगों की योजना की, उसका मूल निरपेक्ष अवक्तव्य प्रतीत होता है।

इतनी चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के समय तक (१) सत् (विधि), (२) असत् (निषेध), (३) सदसत् (उभय), (४) अवक्तव्य (अनुभय) ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे। इन चार पक्षों की परंपरा बौद्ध त्रिपिटक से भी सिद्ध होती है। भगवान बुद्ध के समयपर्यन्त एक ही विषय के चार विरोधी पक्ष उपस्थित करने की शैली दार्शनिकों में प्रचलित थी। त्रिपिटक-गत संजयबेलट्ठिपुत्र के मत वर्णन से भी यही सिद्ध होता है। यहाँ इतना विशेष समझना है कि भगवान बुद्ध ने प्रश्नों को अव्याकृत इसलिये कहा कि वे उन प्रश्नों का 'हां' या 'ना' में उत्तर नहीं देना चाहते थे, जबकि भगवान् महावीर ने अस्ति आदि चारों पक्षों का समन्वय करके सभी पक्षों को भेद से स्वीकार किया है। भगवान महावीर के स्याद्वाद और संजय के भंगजाल में इतना अंतर है कि स्याद्वाद प्रत्येक भंग का स्पष्ट रूप से नयवाद और अपेक्षावाद का समर्थन कर निश्चय करता है और संजय कोई निश्चय नहीं करता है और अज्ञानवाद में कर्तव्य की इतिश्री समझता है।

जैनागमों में भी कई पदार्थों के वर्णन के लिये विधि, निषेध, उभय और अनुभय के आधार पर विकल्प किये हैं। जैसे—(१) आत्मारम्भ, (२) परारम्भ, (३) तदुभयारम्भ, (४) अनारम्भ। इससे यह फलित होता है कि भगवान महावीर के समयपर्यन्त विधि आदि अनुभय पर्यन्त उक्त चार पक्ष स्थिर हो चुके थे और संभवतः इन्हीं पक्षों का भगवान महावीर ने समन्वय किया होगा। उस स्थिति में स्याद्वाद के निम्नलिखित मौलिक भंग फलित होते हैं :—

(१) स्याद् सत् (विधि), (२) स्याद् असत् (निषेध), (३) स्याद् सत् स्याद् असत् (उभय), (४) स्यादवक्तव्य (अनुभय)।

इन चार भंगों में से अंतिम भंग अवक्तव्य दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है—(१) प्रथम के दो भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके और (२) प्रथम के तीनों भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके। इनमें से प्रथम रूप की स्थिति ऋग्वेद कालीन और दूसरे रूप की स्थिति उपनिषद् कालीन प्रतीत होती है। जैन-आगमों में स्याद्वाद के भंगों में जो अवक्तव्य को तीसरा स्थान दिया गया, वह इतिहास की दृष्टि से संगत मालूम होता है। इसका अनुसरण आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थ भा. ५–३१), सिद्धसेन (सन्मति. १–३६) आदि ने किया और अवक्तव्य को चौथा स्थान देने का अनुसरण आचार्य समन्तभद्र (आप्त मी. का. १६) आदि ने किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने दोनों मतों का अनुसरण किया है।

भगवान महावीर द्वारा विभिन्न मतवादों का समन्वय कैसे किया गया, यह द्रष्टव्य है। ऋग्वेद से लेकर भगवान बुद्ध पर्यन्त जो विचारधारा प्रवाहित हुई, उससे यह प्रतीत होता है कि प्रथम एक पक्ष उपस्थित हुआ—सत् या असत् का। उसके विरोध में पक्ष उठा असत् या सत् का। इनका समन्वय करने के लिये किसी ने कह दिया कि तत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है। वह अवक्तव्य है। किसी ने दोनों विरोधी पक्षों को मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है। विचारधारा के उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय ये तीन क्रमिक सोपान हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु समन्वय पर्यन्त आ जाने पर समन्वय भी एक पक्ष बन गया। और जब यह पक्ष बन गया तो विपक्ष का बनना भी सहज था। फिर उनके भी समन्वय की आवश्यकता हुई। यही कारण है कि जब वस्तु की अवक्तव्यता में सत् और असत् का समन्वय हुआ तो वह भी एक एकान्त पक्ष और उसके साथ ही विपक्ष बन गया। इस प्रकार पक्ष-विपक्ष-समन्वय का चक्र अनिवार्य था।

इस चक्र को भेदने का मार्ग भगवान महावीर ने बताया। उन्होंने समन्वय का एक नया मार्ग बतलाया, जिससे समन्वय स्वयं आगे जाकर एक नये विपक्ष को मौका न दे। उनके समन्वय की यह विशेषता है कि वह समन्वय स्वतंत्र पक्ष न होकर सभी विरोधी पक्षों का यथा-योग्य सम्मेलन है। उन्होंने प्रत्येक पक्ष के बलाबल की ओर दृष्टि दी। यदि वे केवल दौर्बल्य की ओर ध्यान देकर समन्वय करते तो सभी पक्षों का सुमेल होकर भी एकत्र सम्मेलन न होता और किसी विपक्ष के उत्थान को अवकाश देता। अतएव उन्होंने प्रत्येक पक्ष की सचाई पर भी ध्यान दिया और सभी पक्षों को वस्तु के दर्शन में यथा-योग्य स्थान दिया। जितने भी अबाधित विरोधी पक्ष थे, उन सभी को सच बतलाते हुए प्रकट किया कि सम्पूर्ण सत्य का दर्शन तो उन सभी विरोधों को मिलाने से ही हो सकता है, पारस्परिक निरास से नहीं। इसकी प्रतीति नयवाद के द्वारा कराई। नयवाद का अर्थ है कि सभी पक्ष, सभी मत पूर्ण सत्य को जानने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। किसी एक प्रकार का इतना प्राधान्य नहीं कि वह सत्य हो और दूसरा न हो। सभी पक्ष अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं और इन्हीं सब दृष्टियों के यथायोग्य संगम से वस्तु के स्वरूप का आभास होता है। नय सुनय तभी कहलाते हैं जबकि वे अपनी-अपनी मर्यादा में रहें और अपने पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए दूसरे पक्ष का मार्ग अवरुद्ध न करें।

भगवान महावीर का समन्वय इतना व्यापक था कि उसमें पूर्व सभी मत अपने-अपने स्थान पर रहकर वस्तुदर्शन में यंत्र के भिन्न-भिन्न अंगों की तरह सहायक होते हैं। फल यह हुआ कि उनका वह समन्वय अंतिम ही रहा।

अब इस संपूर्ण कथन के उपसंहार रूप में स्याद्वाद के स्वरूप का जैसा कि वह आगम में है, विवेचन किया जाता है। इसके लिये भगवती सूत्र का एक सूत्र अच्छी तरह से मार्ग-दर्शक है। उसका सार नीचे दिया जाता है।

गौतम का प्रश्न है कि रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है? उत्तर में भगवान् ने कहा—

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादात्मा है।

(२) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादात्मा नहीं है।

(३) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादवक्तव्य है। अर्थात् आत्मा है और आत्मा नहीं है, इस प्रकार से वह वक्तव्य नहीं है।

उक्त तीन भंगों को सुनकर गौतम ने पूछा एक ही पृथ्वी को आप इतने प्रकार से किस अपेक्षा से कहते हैं। उत्तर में भगवान् ने कहा—

(१) आत्मा 'स्व' के आदेश से आत्मा है।

(२) 'पर' के आदेश से आत्मा नहीं है।

(३) तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

गौतम ने रत्नप्रभा पृथ्वी की तरह सभी पृथ्वियों, स्वर्ग, सिद्धशिला के बारे में पूछा और वैसे ही उत्तर मिला। परमाणु पुद्गल के प्रश्न के बारे में भी पूर्ववत् उत्तर दिया गया। परन्तु जब द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, चतुष्प्रदेशी, पंचप्रदेशी, षट्प्रदेशी स्कन्धों के बारे में प्रश्न पूछे गए तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमशः छह, तेरह, उन्नीस, बाईस और तेईस भंगों से उनकी अपेक्षा के कारणों के साथ उत्तर दिया गया। (विशद जानकारी के लिए भगवतीसूत्र—१२-१०-४६६ देखिए।)

इस सूत्र के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विधि रूप और निषेध रूप इन दो विरोधी धर्मों को स्वीकार करने में ही स्याद्वाद के भंगों का उत्थान होता है। दो विरोधी धर्मों के आधार पर विवक्षाभेद से शेष भंगों की रचना होती है। सभी भंगों के लिए अपेक्षा कारण अवश्य होना चाहिए। इन्हीं अपेक्षाओं की सूचना के लिए प्रत्येक भंग-वाक्य में 'स्यात्' ऐसा पद रखा जाता है। स्याद्वाद के भंगों में से प्रथम चार अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य—भंगों की सामग्री तो भगवान् महावीर के सामने थी। उन्हीं के आधार पर प्रथम चार भंगों की योजना भगवान ने की है। शेष भंगों की योजना भगवान की अपनी है, ऐसा प्रतीत होता है। आगमों में अवक्तव्य का तीसरा स्थान है।

स्याद्वाद के भंगों मे सभी विरोधी धर्मयुगलों को लेकर सात भंगों की (न कम, न अधिक की) जैन-दार्शनिकों द्वारा की गई योजना का कारण यह है कि भगवतीसूत्र के ऊपर संकेत किये गये सूत्र में त्रिप्रदेशी और उससे अधिक प्रदेशी स्कन्धों के भंगों की संख्या में मूल सात भंग वे ही हैं जो जैन-दार्शनिकों ने अपने सप्तभंगी के विवेचन में स्वीकृत किये हैं। जो अधिक भंगसंख्या बताई गई है, वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं किन्तु एकवचन, बहुवचन के भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेद-कृत संख्यावृद्धि को निकाल दिया जाये तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं। अतएव वर्तमान में प्रचलित स्याद्वाद के सप्तभंग आगमों में कहे गये सप्तभंगों के ही रूप हैं। सकलादेश-विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभंगों में विद्यमान है। आगमों के अनुसार प्रथम तीन सकलादेशी भंग हैं और शेष विकलादेशी हैं।

इस प्रकार आगमों में स्याद्वाद और भंगों का रूप देखने में आता है, जिसको उत्तरवर्ती आचार्यों ने विविध रूपों से व्याख्यान करके जन-साधारण के लिए सरल बना दिया और चिन्तन-मनन हेतु विद्वानों को सही दृष्टिकोण किया।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

यह पहले संकेत कर चुके हैं कि जैनदर्शन एक वस्तु में अनन्त धर्म मानता है और उन धर्मों में से व्यक्ति अपने इच्छित धर्मों का समय-समय पर कथन करता है। वस्तु में कथन किये जा सकने वाले वे सभी धर्म वस्तु के अन्दर विद्यमान हैं, लेकिन ऐसा नहीं है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से उन-उन धर्मों का पदार्थ पर आरोपण करता है। वस्तु अनन्त या अनेक धर्मों के कारण ही अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक कही जाती है और अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ है कथंचित्। किसी एक दृष्टि से वस्तु इस प्रकार की कही जा सकती है और दूसरी दृष्टि से वस्तु का कथन दूसरे प्रकार से हो सकता है। यद्यपि वस्तु में वे सब धर्म हैं किन्तु इस समय हमारा दृष्टिकोण अमुक धर्म की ओर है, इसलिए वस्तु एतद्रूप ज्ञात हो रही है। वस्तु केवल इस रूप में ही नहीं है, वह अन्य रूप में भी है, इस सत्य को व्यक्त करने के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्यात् शब्द के प्रयोग से ही हमारा वचन स्याद्वाद कहलाता है। 'स्यात्' पूर्वक जो 'वाद' कथन है, वह स्याद्वाद है। इसीलिए यह कहा जाता है कि अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन स्याद्वाद है।

स्याद्वाद को अनेकान्तवाद कहने का कारण यह है कि स्याद्वाद से जिस पदार्थ का कथन होता है वह अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त अर्थ का कथन स्याद्वाद है। 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का द्योतक है, इसलिए स्याद्वाद को अनेकान्तवाद कह सकते हैं। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही हैं। स्याद्वाद में स्यात् शब्द की प्रधानता है और अनेकान्तवाद में अनेकान्त धर्म की मुख्यता है। स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक है। अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

जैन-दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है और इस प्रयोग के पीछे जो हेतु रहा हुआ है, वह है वस्तु की अनेकान्तात्मकता। यह अनेकान्तात्मकता अनेकान्त शब्द से भी प्रकट होती है और स्याद्वाद शब्द से भी। वैसे देखा जाये तो स्याद्वाद शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन मालूम होता है, क्योंकि आगमों में स्यात् शब्द का प्रयोग अधिक देखने में आता है। उसमें वस्तु की अनेक रूपता का प्रतिपादन करने के लिए 'सिय' (स्यात्) शब्द का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि अनेकान्तवाद स्याद्वाद का स्थूलतः पर्यायवाची शब्द कहा जाता है, फिर भी दोनों में वह अन्तर है कि स्याद्वाद भाषादोष से बचाता है और अनेकान्तवाद चिन्तन को निर्दोष घोषित करता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद पूर्वक स्याद्वाद होता है, क्योंकि निर्दुष्ट चिन्तन के बिना दोष-मुक्त (निर्दोष) भाषा का प्रयोग सम्यक् रीति से नहीं हो सकता। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है, जिसके माध्यम से दूसरे के दृष्टिकोण का समादर किया जाता है।

स्याद्वाद-साहित्य का विकास : ऐतिहासिक दृष्टि

यह पहले संकेत किया जा चुका है कि स्याद्वाद मूलक सात भंगों के नाम कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक ग्रन्थों में दिखलाई पड़ते हैं। वहाँ सात भंगों के केवल नाम एक गाथा में गिना दिये गये हैं। जान पड़ता है कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धान्तों पर होने वाले प्रतिपक्षियों के तर्कप्रहार से सतर्क हो गये और इसीलिए स्याद्वाद को तार्किक रूप देकर जैन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होने लगे थे। स्याद्वाद को प्रस्फुटित करने वाले जैन आचार्यों में ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के अपूर्व प्रतिभाशाली, उच्चकोटि के दार्शनिक विद्वान सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन विद्वानों ने जैन तर्कशास्त्र पर सन्मतितर्क, न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा, आदि स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की हैं। सिद्धसेन और समन्तभद्र ने अनेक प्रकार के दृष्टान्तों और नयों के सापेक्ष वर्णन से स्याद्वाद का अभूतपूर्व ढंग से प्रतिपादन किया है तथा अन्य दार्शनिकों की दृष्टियों को अनेकान्तदृष्टि के अंश प्रतिपादित कर अपनी सर्व-समन्वयात्मक उदार भावना का परिचय दिया है।

इसके बाद ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी में मल्लवादी और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नामक विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ। मल्लवादी ने अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करने के लिए नयचक्र आदि ग्रन्थों की रचना की और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थ बनाये। जिनभद्र ने प्रायः सिद्धसेन दिवाकर की शैली का ही अनुसरण किया है।

इन विद्वानों के पश्चात् ईसा की आठवीं-नौवीं शताब्दी में अकलंक और हरिभद्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने स्याद्वाद का नाना प्रकार से ऊहापोहात्मक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन कर उसको सांगोपांग एवं परिपूर्ण बनाया। इस समय प्रतिपक्षियों द्वारा अनेकान्तवाद पर अनेक प्रकार के प्रहार होने लगे थे। कोई अनेकान्त को संशय कहते, कोई केवल छल का रूपान्तर और इसमें विरोध, अनवस्था आदि दोषों का प्रतिपादन कर उसका खण्डन करते थे। ऐसे समय में अकलंक और हरिभद्र ने तत्त्वार्थ-राज-वार्तिक, सिद्धिविनिश्चय, अनेकान्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयपताका, शास्त्र वार्तासमुच्चय आदि ग्रंथों का निर्माण कर योग्यता पूर्वक उक्त दोषों का निवारण किया और अनेकान्तवाद की जय-पताका फहराई।

ईसा की नौवीं शताब्दी में विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि सुविख्यात विद्वान हो गये हैं। विद्यानन्द अपने समय के बड़े भारी नैयायिक थे। इन्होंने कुमारिल भट्ट आदि वैदिक विद्वानों के जैन-दर्शन पर होनेवाले आक्षेपों का बड़ी योग्यता से परिहार किया है। विद्यानन्द ने तत्वार्थ-श्लोक-वार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थों की रचना करके अनेक प्रकार से तार्किक शैली द्वारा स्याद्वाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। माणिक्यनन्दि ने सर्व-प्रथम जैन न्याय को परीक्षामुख के सूत्रों में गूंथ कर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया और जैन-न्याय को समुन्नत बनाया।

ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में होने वाले प्रभाचन्द्र और अभयदेव महान् तार्किक विद्वान थे। इन विद्वानों ने सन्मतितर्क टीका (वादमहार्णव), प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचंद्रोदय आदि ग्रन्थों की रचना कर जैन न्यायकोष की भी वृद्धि की है। इन्होंने सौत्रांतिक, वैभाषिक, विज्ञान-वाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत शब्दाद्वैत आदि वादों का समन्वय करके स्याद्वाद का नैयायिक पद्धति से प्रतिपादन किया।

इसके पश्चात् ईसा की बारहवीं शताब्दी में वादिदेवसूरि और कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र का नाम आता है। वादिदेव वाद-शक्ति में असाधारण माने जाते हैं। वादिदेव ने स्याद्वाद का स्पष्ट विवेचन करने के लिए प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वाद-रत्नाकर आदि ग्रन्थ लिखे। हेमचंद्र अपने समय के असाधारण विद्वान थे। उन्होंने अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोग-व्यवच्छेदिका, प्रमाण-मीमांसा आदि ग्रंथों की रचना करके स्याद्वाद की सिद्धि से जैन-दर्शन के सिद्धान्तों को पल्लवित किया।

ईसवी सन् की सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय जी और पंडित विमल-दास जैनदर्शन के विख्यात विद्वान् हो गये हैं। उपाध्याय जी जैन परम्परा में लोकोत्तर प्रतिभा के धारक एवं असाधारण विद्वान् थे। इन्होंने योग, साहित्य, प्राचीन न्याय आदि का पांडित्य प्राप्त करने के साथ नव्य-न्याय का भी पारायण किया था। आपने शास्त्र-वार्ता-समुच्चय की स्याद्वाद-कल्पलता टीका, नयोपदेश, नय-रहस्य, नय-प्रदीप, न्याय खंड-खाद्य, न्यायालोक, अष्टसहस्री-टीका आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है। पंडित विमलदास ने नव्य-न्याय का अनुकरण करने वाली भाषा में सप्तभंगीतरंगिणी नामक स्वतंत्र ग्रंथ की संक्षिप्त और सरल भाषा में रचना करके एक विशेष कार्य की पूर्ति की है।

पूर्वोक्त विद्वानों के अतिरिक्त अन्यान्य भी अनेक प्रभावक विद्वानों ने स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रंथों की रचना की है और जैन-दर्शन के रूप को व्यापक बनाया है।

पूर्वोक्त परिशीलन से यह भलीभांति समझ में आ जाता है कि यदि पदार्थ के स्वभाव को समझना है और ज्ञान का सही मूल्यांकन करना है तो अनेकान्तमयी स्याद्वाद दृष्टि को अपनाना चाहिये। क्योंकि साधारण मनुष्य की शक्ति अत्यल्प है और बुद्धि परिमित है। इसलिये हम अपनी छद्मस्थ दशा में हजारों-लाखों प्रयत्न करने पर भी ब्रह्माण्ड के असंख्य पदार्थों का ज्ञान करने में असमर्थ रहते हैं। स्याद्वाद यही प्रतिपादन करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता है, वह पदार्थों की अमुक अपेक्षा को ही लेकर होता है, इसलिये हमारा ज्ञान आपेक्षिक सत्य है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म है, इन अनन्त धर्मों में से हम एक समय में कुछ धर्मों का ही ज्ञान कर सकते हैं और दूसरों को भी कुछ धर्मों का प्रतिपादन कर सकते हैं।

स्याद्वाद की शैली सहानुभूतिमय है इसलिये उसमें समन्वय की क्षमता है। उसकी मौलिकता यही है कि पड़ौसी वादों को उदारता के साथ स्वीकार करता है, लेकिन उनको उसी रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में नहीं, उनके साथ रहने वाले आग्रह के अंश को छांटकर उन्हें वह अपना अंग बनाता है। स्याद्वाद दुराग्रह के लिये नहीं, किन्तु ऐसे आग्रह के लिये संकेत करता है, जिसमें सम्यक् ज्ञान के लिये अवकाश हो।

सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है, वह राग-द्वेष रूप आत्मविकारों पर विजय पाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। वह दूसरों के सिद्धान्तों को आदर की दृष्टि से देखता है और मध्यस्थ-भाव से संपूर्ण विरोधों का समन्वय करता है। इसीलिये षड्-दर्शनों को जिनेन्द्र भगवान के अंग कहकर परम योगी आनन्दघन जी ने 'आनन्दघन चौबीसी' में इस भाव को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

षट् दरसण जिन अंग भणीजे, न्याय षड़ंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षट्दर्शन आराधे रे ॥१॥
जिन सुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करता, लही दुग अंग अखेदे रे ॥२॥
भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे ॥३॥
लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंश विचार जो कीजे।
तत्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे ॥४॥
जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे ॥५॥

स्याद्वाद केवल दार्शनिक चिन्तन, कथन की प्रणाली ही नहीं है, अपितु प्रतिदिन जीवन-व्यवहार में भी हम स्याद्वाद का प्रायोगिक रूप देखते हैं और उसके कथन के अनुरूप कार्य-प्रवृत्ति भी देखते हैं। फिर भी यह आज की विडंबना है कि स्याद्वाद-प्रणाली का उपयोग करते हुए भी उसकी शैली का नामोल्लेख नहीं करते हैं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि स्याद्वाद चिन्तन की प्रक्रिया के साथ-साथ स्वस्थ, स्वच्छ आचार की भी प्राथमिक भूमिका है।

स्याद्वाद के संबंध में अपनी शक्ति, क्षमता, बुद्धि से किये गये यत्किंचित् संकेत को ज्ञान-सागर के अंशमात्र का कथन मानता हूँ। प्रयास की सफलता का समग्र श्रेय गुरुजनों को है, और इसमें कुछ त्रुटि रह गई हो तो अपनी अज्ञता के लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ। विज्ञजन संशोधन कर प्रमाद-गत स्खलना से अवगत करावें, जिससे परिमार्जन कर तथ्य को समझ सकूँ। विज्ञेषु किमधिकम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org